945 से प्रकाशित

मार्च 2012 दस रुपये

आजकल

साहित्य और संस्कृति का मासिक



चाहे नक्काशीदार एंटीक दरवाजा हो
या लकड़ी के चिरे हुए फट्टों से बना
उस पर खूबसूरत हैंडल जड़ा हो
या लोहे का कुंडा!

वह दरवाजा ऐसे घर का हो
जहॉ मॉ बाप की रजामंदी के बगैर
अपने प्रेमी के साथ भागी हुई बेटी से
माता पिता कह सकें..
"जानते हैं, तुमने गलत फैसला लिया
फिर भी हमारी यही दुआ है
खुश रहो उसके साथ
जिसे तुमने वरा है!
कभी यह फैसला भारी पड़े
और पॉव लौटने को मुड़ें
तो यह मत भूलना

यह दरवाज़ा खुला है तुम्हारे लिए"
बेटियों को जब सारी दिशाएं
बंद नज़र आएं
कम से कम एक दरवाज़ा
हमेशा खुला रहे उनके लिए !
हमेशा खुला रहे उनके लिए !

बसंत-बांसुरी

रामवरण चौधरी

कौन सलज्जकामा
जिसकी आंखों में पलाश लहक रहा है
गुलाल की भरपूर लाली छाई है जिसके गालों पर
छुप-छुप के झांक रही है?
प्राची के झरोखों से?

नर्तकियां तो नाचती ही रहती हैं रोज़
किंतु सबके नाचने में वह बावरापन कहां होता!
खुद को भूलकर नाचने का बावरापन कहां होता!!
आज हवाएं नाच रही हैं, नाची थी जैसे मीरा–
दिल खोल के नाच रही हैं हवाएं।

पहाड़ों और जंगलों को हो रही है गुदगुदी
यौवन के प्रथम स्पर्श से जैसी होती है किशोरियों को
वैसा ही स्पर्श-सुख व्याप्त है प्रकृति में।

कोयल ने छेड़ दिया है 'कुहु-कुहु' का आदिम आलाप
किसी वासकसज्जा के कंठ से फूट पड़ा है
अचौके ही कोई प्रणय-गीत।

मस्जिद से अज़ान की आवाज़ें आ रही हैं
मंदिर में उषासूक्त का उद्गान हो रहा है।

बग़ल की दलित बस्ती में चला है
रात भर 'होरीगीत' का दौर।
'मोहन खेले होरी' का आलाप
अभी भी साफ़-साफ़ सुनाई पड़ रहा है
उस विशाल दिगंबर दरख़्त के पास से बहने वाला झरना
ऋषभ-गांधार गा रहा है।

अंतिम तारा आकाश से विदा ले रहा है
–गीत जारी है।

गाय-भैंस के बथानों में गर्र-गर्र की ध्वनि हो रही है।
दूध की महक जीभ में मिसरी घोल रही–
जीवन को चलते-चलने की ताक़त दे रही है।

किसान हल-बैलों के साथ खेतों को चल पड़े हैं।
टुन-टुन, टुन-टुन, झुन-झुन, झुन-झुन, झुनुर-झुन, झुनुर-झुन–
घंटियां बज रही हैं।

श्रम के ये ऊर्जा ऊष्म गान हैं
अंतहीन जिजीविषा के उद्गान हैं ये
दुर्काल में भी जो चुप नहीं होते।

सरसों ने पीतिमा की चादर बिछा दी है।
तीसी नीले रंगों में डूब चुकी है।
गेहूं के साथ चने का युगल नृत्य चल रहा है।
जौ के स्वर्णमौलि मरुत के साथ लगा रहे हैं ठुमके।

अरहर के कुंजो की सुगंधवासना राहगीरों के पंथ रोक रही है।

कितनी मनोरमा है पृथ्वी!
क्या इतना ही खूबसूरत यह संसार नहीं हो सकता?

वन-बालाओं के मन में कचनारों के मेले लगे हैं।
ये टांक रही हैं अपने जूड़ों में–
सखुआ के फूल।
ब्रह्मपुत्र बह रहा है इनकी रगों में

चम्पकवर्णी कृषक-किशोरियों के
नीले, हरे, गाढ़े गुलाबी सपने
कामनासिद्धि के सगुन उचार रहे हैं।

चांदमणि महुआ के कच्चे फूलों से रंगोलियां सजा रही है
ऋतुस्नाता प्रकृति की देह से
कमल के फूटने का प्रकाश बिखर रहा है।

हंसों के जोड़े–
लंबे प्रवास के बाद मानसरोवर की यात्रा पर हैं
नीले आसामन में श्वेत उड़ानें भर रहे हैं।

चकवा के जोड़े–
चोंच से चोंच मिलाए
आंखें मूंदे
अमृतपान कर रहे हैं।

आओ!
छू दो अपनी सांसों से मुझे
कि बन जाऊं मैं बसंत-बांसुरी
बजता रहूं..
बजता रहूं..
महाप्रलय के बाद भी बजता ही रहूं।

संपर्क : कुम्हार पाड़ा, रानीबगान, दुमका-814101

ISSN-0971-8478

पृष्ठ 1-56

स्थापित 1945

इस अंक में

लेख

आजकल

वर्ष : 67; अंक : 11; पूर्णांक : 809
मार्च 2012; फाल्गुन-चैत्र 1933

संपादक
सीमा ओझा

सह संपादक
फरहत परवीन

आवरण सज्जा : **अर्चित धीर**
आवरण चित्र : **बंसीलाल परमार**
मुखपृष्ठ पर कविता : **सुधा अरोड़ा**

संपादकीय पत्र व्यवहार :
संपादक
आजकल : प्रकाशन विभाग
कमरा नं. 120, सूचना भवन
सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड,
नई दिल्ली-110003
फोन : 2436 2915

website :
www.publicationsdivision.nic.in

संयुक्त निदेशक (उत्पादन) :
वी. के. मीणा

सदस्यता शुल्क :
वार्षिक : 100 रूपये; दो वर्ष : 180 रूपये;
तीन वर्ष : 250 रूपये
विदेशों में (हवाई डाक से)
एक वर्ष : पड़ोसी देश : 530 रूपये
शेष विश्व : 730 रूपये

सदस्यता संबंधी पूछताछ :
सूर्यकांत शर्मा
वितरण एवं विज्ञापन व्यवस्थापक
पूर्वी ब्लाक-4, लेवल-7, रामकृष्णपुरम,
नई दिल्ली-110066
फोन : 26100207 / 26175516
ई-मेल : pdjucir_jcm@yahoo.co.in

टाइपसेट : **ज्योति लेजर टाइप सेटिंग**

2. प्रसंगवश
3. पत्र
5. साहित्य में बसंत : बसंत में साहित्य — **बनवारी लाल ऊमर वैश्य**
8. सखि, बसंत आया — **दादूराम शर्मा**
11. मेरे लेखन के प्रति लोगों का विश्वास बढ़ने लगा (**नासिरा शर्मा** से **प्रेम कुमार** की बातचीत)
19. कुछ देर ठहर लें... — **क्षमा शर्मा**
22. कम-से-कम एक दरवाज़ा — **सुधा अरोड़ा**
26. मुक्तिबोध काव्य में नारी — **सुधा मौर्य**
30. पश्चिम में स्त्री-मुक्ति की पहली गूंज — **पूनम कुमारी**
33. एक मुकम्मल औरत का ख़्वाब — **प्रभा दीक्षित**
37. अवधी लोकगीतों में नारी संवेदना — **अरुण कुमार वर्मा**
39. सहजोबाई की दार्शनिक चेतना — **दिवाकर गरवा**
50. नारी की मनोवैज्ञानिक पल्लोन्मुखता : एक विमर्श — **प्रगति श्रीवास्तव**
53. सौजन्य के प्रतीक द्रोणवीर कोहली — **शेरजंग गर्ग**

कहानी
41. कॉफी — **मुक्ता**
44. पाठशाला जसपुर और छोटे दादा — **कुसुम भट्ट**

कविता
52. तीन कविताएं — **सुमन**

56. **समीक्षा**

आवरण II : बसंत-बांसुरी **रामवरण चौधरी**
आवरण III : दो फागुनी गीत **शिवाकांत मिश्र 'विद्रोही'**

हमारे विक्रय केंद्र : नई दिल्ली: सूचना भवन, सी.जी.ओ. कांप्लेक्स, लोदी रोड, दूरभाष : 011-24367260; **लखनऊ:** हाल नं. 1, दूसरी मंजिल, केंद्रीय भवन, अलीगंज, दूरभाष : 0522-2225455; **कोलकाता:** 8, एस्प्लनेड ईस्ट, दूरभाष : 33-22488030; **पटना :** बिहार रा. सह. बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ; दूरभाष : 0612-2683407; **मुंबई :** 701 बी-विंग, सातवीं मंजिल, केंद्रीय सदन बेलापुर, नवी मुंबई; दूरभाष : 9322-27570686; **बंगलौर :** एफ विंग, केंद्रीय सदन, कोरामंगला दूरभाष : 080-25537244; **हैदराबाद :** ब्लाक-4, प्रथम तल, गृहकल्प कॉम्प्लेक्स, एम.जे. मार्ग, नामपल्ली; दूरभाष :040- 24605383; **चेन्नई :** राजाजी भवन, बेसेंट नगर; दूरभाष : 011-24917673; **तिरुअनंतपुरम :** गवर्मेंट प्रेस के निकट; दूरभाष : 011-2330650

प्रसंगवश...

मृदुला भटनागर अपने काव्य-संकलन सुनो सिया *में लिखती हैं–*

ऊंची शिक्षा पाई हुई लड़कियां गठरी भर दहेज लेकर आती हैं/ तभी वह अपनी ससुराल और पति की प्यारी बन पाती हैं
सरकार बनाए चाहे कितने क़ानून/पर दहेज प्रथा तो अभी भी जारी है/ फिर भी हम कहते हैं कि नर से बड़ी नारी है।
बसों में विकलांगों और महिलाओं के लिए सीटें सुरक्षित हैं/ लोकसभा में एस.सी., एस.टी. और/ महिलाओं के लिए सीटें आरक्षित हैं
स्वयं को विकलांगों की श्रेणी में पाने के बावजूद
हम सरकार की कृपादृष्टि के अत्यंत आभारी हैं/ फिर भी हम कहते हैं कि...

घर से पढ़ने के लिए निकली लड़की शाम तक घर वापस आएगी
या किन्हीं दरिंदों की हवस का शिकार हो जाएगी / जला दी जाएगी या मां-बाप द्वारा चुप करा दी जाएगी
क्योंकि समाज को पाक-साफ़ रखने की उसी की ज़िम्मेदारी है / फिर भी हम कहते हैं कि...

पुरानी परंपराओं को बनाए रखने की ख़ातिर आज भी
अपनी बेटियों को देते हैं वैसी ही शिक्षा, जो कभी दी थी/ जानकी को उनके पिता ने,
आज तक सीता आदर्शों की प्रतिमा एवं सन्नारी है/ पर अब आओ, इस सोच को बदल डालें हम तुम
क्योंकि न नर बड़ा और न ही बड़ी नारी है / दोनों एक-दूसरे के पूरक, दोनों ही, दोनों के आभारी हैं।

मार्च अंक अंतराष्ट्रीय महिला दिवस फिर एक सवाल स्त्री सशक्तिकरण का और उस बहाने एक बहस उसके विमर्श पर। आर्थिक निर्भरता ने आज स्त्री को स्वावलंबी बनाया है। अपने काम में घर-बाहर की दोहरी ज़िम्मेदारी से जूझती स्त्री आज भी क्या स्वतंत्र रूप से निर्णय ले सकती है? घर अगर टूटे तो यह तोहमत भी उसके हिस्से क्यों? क्या इस प्रश्न का उत्तर आज तक मिल पाया है! आज़ादी के पैंसठ वर्षों में स्त्री जागरूकता को लेकर काफ़ी काम हुआ। कई संस्थाएं बनीं, महिलाओं को उनका हक़ दिलाने के लिए पर समस्याएं बढ़ती जा रही हैं। स्त्रियों की सबलता देख समाज उनके प्रति निर्मम हो रहा है, स्त्रियों की बौद्धिक प्रखरता को सराहना नहीं मिलती या तो झुंझलाहट या फिर कम बोलने की सलाह से उसे चुप करा दिया जाता है। शोषण के नए तरीक़े ईजाद हुए हैं क्योंकि वह खुली हवा में सांस ही नहीं लेती, घर-बाहर भी संवारती है। पुरुष के लिए स्त्री शक्ति है पर किस क़ीमत पर!

हर स्तर पर युद्ध के मोर्चे-सी डटी स्त्री के घरेलू कामों के मूल्यांकन की आवाज़ भी उठ रही है। संवेदनशील अनुरागयुक्त भावुक स्त्रियां, कोमलांगी स्त्रियां, मर्यादा का निर्वाह करती स्त्रियां–इन विशेषणों को सम्मान का प्रतीक मानती आधुनिक समाज के शोषण के नए तरीक़ों से जूझती नारी जब तक अपने गुणों को अभिव्यक्ति नहीं देगी वह अपनी संस्कृति के उज्ज्वल पक्ष को जिसमें वह शंकराचार्य से शास्त्रार्थ करने का जुझारूपन दिखाती है या बौद्ध-भिक्षुणियां जिनकी कविताओं में है विद्रोह का स्वर, को व्यापक परिदृश्य पर नहीं ला सकती।

स्वतंत्रता के बावजूद आज असुरक्षित है स्त्री। पहले पुरुष की दास बनी स्त्री उसके आगे-पीछे घूमती थी तो वह स्वीकार्य थी क्योंकि स्त्री पर मालिकाना हक़ था–पुरुष का। पर आज क्यों नहीं पुरुष उसे अपने समकक्ष रखने का साहस कर पाता? क्यों उसकी बौद्धिकता नहीं स्वीकारी जाती? चमक-दमक में उलझ मृग-सी स्थिति से वह क्यों जूझती है? विगत और वर्तमान की स्त्री की दशा में अंतर क्या है? पहले स्त्री अधीन थी पिता, पति, पुत्र के–आज स्वाधीन होने का दावा करती हुई भी क्या अपनी स्वतंत्रता के बहाने वह गुलाम नहीं है? विज्ञापनों के बोल्ड दृश्य के बहाने अंग-प्रदर्शन की अपनी इस लक्ष्मण रेखा को उसे स्वयं बदलना होगा। आगे बढ़, अपनी स्थिति को स्त्री स्वयं बेहतर कर सकती है। आवश्यक नहीं कि बदलाव के लिए दूसरे कंधों का सहारा ही लिया जाए। स्त्री अपनी मज़बूत इच्छाशक्ति से ही अपने को सशक्त बना सकती है। स्त्री समस्या का अंत कब होगा, इसकी सटीक भविष्यवाणी नहीं हो सकती पर आज का समाज यह आशा अवश्य जगाता है कि आने वाले समय में स्थितियां बेहतर होंगी।

अंत में भविष्य के प्रति आशान्वित हम स्त्रियां कवयित्री मृदुला भटनागर की इन पंक्तियों से इस आशा के साथ–

स्नेह दीप को जलने दो/ मन प्रकाश से भरने दो/ कभी तो अंबर से उतरेगा/ उजियारा इन राहों में
कभी तो शूल बिखर जाएंगे/ फूल खिलेंगे राहों में/ कभी तो जग महकेगा सारा/ अभी तो गली महकने दो!
तो क्या प्रतीक्षा करें गली महकने की!

पत्र



गोपाल सिंह नेपाली

● नवंबर अंक पढ़ा। इस महत्त्वपूर्ण अंक के लिए सर्वप्रथम साधुवाद स्वीकार करें। क़लम को स्वाधीन मानते हुए जितना संघर्ष जीवन भर नेपाली ने किया; एक साहित्यकार होते हुए इतना बड़ा दंश झेलना मुनासिब नहीं था। आज उनके नहीं रहने के बाद भी यह 'यक्ष प्रश्न' हमारे लिए अनुत्तरित है। कवि की क़लम से जो कुछ पढ़ा हृदयस्पर्शी है। सुरेश सलिल, ओम निश्चल, नंदकिशोर नंदन, रघुनाथ उपाध्याय 'शलभ', अजय कुमार पांडेय, आनंद स्वरूप श्रीवास्तव, उमेश कुमार सिंह और मेधा ने मिलकर नेपाली साहित्य को शोधपरक बना दिया। कोई भी आलेख कमतर नहीं है। कविवर 'नेपाली' के लिए वास्तव में कुछ भी नहीं हुआ। अपनी धरती, अपनी माटी से प्यार करने वाला, उसी लोक, समाज में पराया हो गया।

बाल साहित्य पर 'परिचर्चा' में विद्वानों के विचारों ने साहित्य ही नहीं बच्चों की भावनाओं पर भी खुला विचार रखा है, जो बहस का विषय है। आज बच्चे बस्ते के बोझ से जहां दब रहे हैं वहीं उन्हें उनके अनुरूप साहित्य उपलब्ध नहीं हो पा रहा है। एक अच्छी बाल पत्रिका की अभी भी जरूरत है।

–श्रीनाथ भारद्वाज, चतरा (झारखंड)

श्रद्धा-सुमन समर्पित

● प्रशंसनीय विशेषांकों की परंपरा में एक और विशेषांक *आजकल* का गोपाल सिंह नेपाली विशेषांक उस महान रचनाकार की स्मृतियों को साकार करता है। नेपाली जी का साहित्य हमें प्रेरणा देता है। एक समय था जब मंचों पर यह आवाज़ गूंजा करती थी। पूरा विशेषांक पठनीय, स्मरणीय और संग्रहणीय है। 'मेरा धन स्वाधीन क़लम' के गायक को श्रद्धा-सुमन समर्पित।

–कल्पनाथ चौबे, जौनपुर (उ.प्र.)

बाल साहित्य की कमी

● प्रख्यात कवि गोपाल सिंह नेपाली की रचनात्मकता को केंद्र में रखकर निकाला गया *आजकल* का अंक अच्छा लगा। लेकिन बाल साहित्य को कम स्थान दिया गया जो खेद की बात है। बेहतर होता कि इस अंक को बाल साहित्य विशेषांक के रूप में ही प्रकाशित किया जाता। बाल-साहित्य की दशा-दिशा की खोज-ख़बर लेने के मामले में विगत कई वर्षों से *आजकल* ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। बाल-साहित्य पर दी गई समस्त सामग्री अत्यंत पठनीय और संग्रहणीय लगी। विशेष रूप से प्रकाश मनु को धन्यवाद देना चाहता हूं जिनकी अथक मेहनत से तैयार आलेख 'रवींद्रनाथ टैगोर की बाल कविताएं' अंक की उपलब्धि मानी जाएगी।

–नीरज कुमार झा, मधुबनी (बिहार)

गौरवमयी विभूति

● हम तो कवि हैं इतिहास बदलने वाले...ऐसा कहने वाले हिंदी साहित्य के गर्व एवं गौरवमयी विभूति गोपाल सिंह नेपाली पर आधारित अंक पठनीय के साथ-साथ संग्रहणीय है। इसमें नेपाली जी पर आधारित लेखों, नेपाली के गीतों–कवि मुख से (नेपाली), कुछ गूंज गई कुछ गीत गए (सुरेश सलिल), विस्मृति के धुंधलके (ओम निश्चल), मैं बसंत हूं कुंज-कुंज में (नंद किशोर नंदन), तन का दिया प्राण की बाती, दीपक जलता रहा रात भर (भगवती प्रसाद द्विवेदी), यह गीतों का है देश यहां चरवाहा बिरहा गाता है (रघुनाथ उपाध्याय 'शलभ'), नेपाली को वह सम्मान मिलता नहीं दिख रहा, मेरा धन है स्वाधीन क़लम, विराट मानवता के कवि गोपाल सिंह नेपाली (आनंद स्वरूप श्रीवास्तव), यादों के झरोखे से (उमेश कुमार सिंह), बरास्ते बाबुल तुम बगिया के तरुवर आदि लेखों के अध्ययन से नेपाली जी के व्यक्तित्व व कृतित्व के बारे में काफी जानकारी मिली। उनके इसी व्यक्तित्व और कृतित्व के आधार पर हिंदी साहित्य को उन पर गर्व है। उन्हें भूल पाना आसान नहीं, उनको पढ़ना भी गर्वानुभूति कराता है।

–राजेंद्र कृष्ण श्रीवास्तव, राजाजीपुरम, लखनऊ (उ.प्र.)

श्रेष्ठ सृजन अभावों ही में संभव

● अंक से मुख़ातिब हूं। विशेषांकों की शृंखला परवान चढ़ती जा रही है।

भगवतशरण उपाध्याय के बाद गोपाल सिंह नेपाली पर तत्काल दस्तावेज़ी अंक दे पाना मुश्किलतरीन कार्य था। एक अंक की संयोजना वह भी बेहतरीन सामग्री के साथ 'भगीरथ प्रयास' जैसा कार्य है। मूल्यांकन की कसौटियां, क़लम से पाजामे में डोरी डालने का उपक्रम कर रही है। सही को सही, ग़लत को ग़लत कह सकने का जज़्बा क़लम कार्य करता जा रहा है। रचनाकार का रचनात्मक क़द निरंतर छोटा होता जा रहा है। आत्मिक मन से *आजकल* या किसी पत्रिका के 'लीजेण्ड वर्क' की मुक्त मन से अनुशंसा-प्रशंसा भी नहीं कर पाते। यह युगीन क्षरण आज ज़िंदगी के प्रत्येक क्षेत्र में है। साहित्य में मुझे कुछ ज्यादा ही परिलक्षित होता है।

गोपाल सिंह नेपाली तक़रीबन छायावादोत्तर गीत धारा के कवि हैं। छायावाद अपनी महत्तम प्रस्तुति के बावजूद अपने समय की वास्तविकता से पलायन का काल-खंड है–गोपाल सिंह नेपाली, रामधारी सिंह दिनकर, महाकवि श्यामनारायण पांडेय, डा. शंभुनाथ सिंह, प्रो. श्रीपाल सिंह 'क्षेम' आदि ने कविता के माध्यम से, जन जागरण का कार्य अपने काल-खंड में किया है। हिंदी-काव्य-मंच कविता की

संप्रेषणीयता के लिए उस समय सर्वाधिक सशक्त और उचित माध्यम था। आज काव्य-मंच, पतनशीलता के गर्त में है। भगवती प्रसाद द्विवेदी के आलेख में नेपाली जी के साहित्यिक जीवन के विभिन्न सोपान हैं। उनकी व्यथा-कथा की आईनादारी द्विवेदी जी ने संवेदनात्मक 'डूब' के साथ किया है। पढ़कर लगता है जैसे नेपाली जी अपनी व्यथा-कथा खुद कलमकार से कह रहे हैं–ओम निश्चल ने नेपाली जी के विविध पक्षों को, अपने कलम का ईमान बनाया है। नेपाली के चिंतन में राष्ट्रवादी भाव-भूमि का आधिक्य है–अपने समय की शिनाख़्त, अपने परिवेश को रचने की जिजीविषा के चलते अपने समकालीनों से नेपाली कुछ अलहदा नज़र आते हैं।

–मधुर नज्मी, गोहना मुहम्मदाबाद, मऊ (उ.प्र.)

गवेषणापूर्ण आलेख

● राष्ट्रीय चेतना के प्रखर गायक, प्रकृति प्रेम, प्रीति, सौंदर्य, माधुर्य, सौकुमार्य आदि भावों से युक्त गीतों के सुकुमार राजकुमार गोपाल सिंह 'नेपाली' पर केंद्रित अंक शोधपरक संपादकीय के साथ सभी आलेख अत्यंत गवेषणापूर्ण लगे। बहुत-सी नई जानकारियां मिलीं। मेधा जी द्वारा लिखित जीवन-यात्रा से संबंधित बहुत-से रहस्यपूर्ण तथ्य मिले। नेपाली जी की अप्रकाशित कृतियां कहां हैं? इसका पता दें तो हम लोग उन्हें प्रकाशित करने का सत्प्रयास करेंगे। बहुत-सी नई कविताएं एवं नए गीत प्रकाशित कर आपने महनीय कार्य किया है। बाल साहित्य पर भी विद्वानों के मूल्यवान विचार संग्रहीत हैं। नेपाली जी के जन्मशती वर्ष पर प्रभूत जानकारी देने एवं आगे भी अनुसंधानात्मक अंक निकालने की याचना के साथ।

–रामचंद्र पांडेय 'रसिक', नवगछिया, भागलपुर (बिहार)

अजर-अमर कविताएं

● अंक प्राप्त हुआ। इस बार पत्रिका का मुखपृष्ठ गोपाल सिंह 'नेपाली' के सुंदर चित्र से सुशोभित देखा, बड़ी खुशी हुई। इस अंक में उनकी कई कविताओं को सजाकर दिया गया है मगर 'भाई-बहन' इसमें शामिल नहीं हो पाई। नेपाली की कविताओं ने उन्हें अजर-अमर कर दिया। इस अंक में उनके विषय में साहित्यकारों का आलेख पठनीय और सराहनीय है।

–विनोद कुमार तिवारी, अररिया (बिहार)

स्तरीय सामग्री

● गोपाल सिंह नेपाली विशेषांक संग्रहणीय है। कविवर 'नेपाली' पर एक साथ इतनी स्तरीय सामग्री किसी पत्रिका में इधर देखने में नहीं आई थी।

प्रस्तुत अंक में नेपाली की कुछ रचनाओं को प्रकाशित किया जाना हमें प्रीतिकर लगा। कई गंभीर आलेख नेपाली जी पर दिए गए हैं। सभी गूढ़ एवं पठनीय हैं। सुरेश सलिल, ओम निश्चल, नंदकिशोर नंदन, भगवती प्रसाद द्विवेदी आदि की रचनाएं नेपाली जी के सृजन-संसार के कई पक्षों का आयाम खोलने में सफल हुई हैं। साक्षात्कार में नेपाली जी की पुत्री कमला कुंदर से संजय कुमार की बातचीत बहुआयामी है। समीक्षा में अनुराधा की लेखनी तल्ख़ दिखाई पड़ी।

–जनार्दन मिश्र, आरा (बिहार)

संपूर्णता की अनुभूति

● गोपाल सिंह नेपाली के विषय में विस्तृत रूप से पढ़कर अच्छा लगा। बचपन में उनकी कई कविताएं पाठ्यक्रम में पढ़ी थीं। उनके लेखन में सरलता के साथ सरसता, वैश्विकता के साथ राष्ट्रीयता, सहनशीलता के साथ विद्रोहिता, प्रकृति के साथ समाज है, जो संपूर्णता की अनुभूति कराता है। भोजपुरी अंचल में जन्मे इस कवि में निश्चित रूप से माटी की मिठास है। बिरहा, नारायणी, बजरिया, डोली जैसे शब्द तराई की अनुगूंज हैं। मंचों को साहित्यिक व सांस्कृतिक गरिमा प्रदान करने वालों में उनको सदा याद किया जाएगा। उनकी रचनाओं में निलहों का बेतिया, बापू का बेतिया, चंपारण की प्राकृतिक संपदा से लेकर नेपाल के तलहटी वाले बेतिया के साथ-साथ, भ्रमण के अनुभवों का उतार दिखता है। वे समय के साथ जीने वाले साहसी कवि थे।

–शुभदा पांडेय, सिलचर (असम)

राष्ट्र प्रेम के चितेरे कवि

● *आजकल* की गौरवशाली विशेषांक परंपरा में स्वाधीन कलम के सिपाही गोपाल सिंह 'नेपाली' पर केंद्रित अंक देखने, समझने का सुयोग प्राप्त हुआ। जनपक्षधर कवि नेपाली के जन्मशती वर्ष पर पुण्य स्मरण श्लाघनीय व अनुकरणीय है। आवरण पृष्ठ पर दुर्लभ चित्र तथा मेधा द्वारा प्रस्तुत कविश्रेष्ठ की जीवन-झांकी अंक की उपलब्धि है। प्रकृति-प्रेम व राष्ट्र प्रेम के चितेरे कवि की स्मृति का प्रस्तुत उपक्रम आने वाली पीढ़ी जो अकविता की ओर उन्मुख है, को दिशा-बोध प्रदान करेगी।

आनंद कुमार श्रीवास्तव (विराट मानवता के कवि...), सुरेश सलिल (कुछ गूंज गई...), ओम निश्चल (विस्मृति के धुंधलके में...) तथा नंद किशोर नंदन (मैं बसंत हूं...) ने अपनी समर्थ लेखनी से अंक को संग्रहणीय बना दिया है।

–शारदानंदन, इंदिरा नगर, लखनऊ (उ.प्र.)

उत्तर छायावाद के मूर्धन्य कवि

● शताब्दी-कवि गोपाल सिंह 'नेपाली' पर विशेषांक प्रकाशित कर आपने सच्ची पत्रकारिता को चार चांद लगा दिया है।

कविवर अज्ञेय, नागार्जुन, शमशेर बहादुर सिंह, उपेंद्रनाथ अश्क तथा केदारनाथ अग्रवाल जैसी अनेक विभूतियों पर आजकल ने विशेषांक प्रकाशित किया है। किंतु उत्तर छायावाद के मूर्धन्य कवि और गीतों के राजकुमार तथा प्रकृति सुषमा के अमर गायक गोपाल सिंह 'नेपाली' जिन्हें हिंदी प्रेमी बिसरा चुके थे

पृष्ठ 18 पर जारी

साहित्य में बसंत : बसंत में साहित्य

बनवारी लाल ऊमर वैश्य

शतपथ ब्राह्मण में बसंत को देव-ऋतु माना गया है। यह श्रीकृष्ण का दिव्य रूप है। *श्रीमद्भागवत गीता* में उन्होंने कहा था–"हे पार्थ! मैं ऋतुओं में बसंत हूं 'ऋतुनां सुमाकरः' अर्थात ऋतुओं में, मैं पुष्प, पल्लव, लता और सुषमा का आकर कंदर्प बसंत हूं।' विश्व साहित्य में ऋतुराज की सत्ता है। बसंत ही फाल्गुनी आहट देता है। कंदर्प को यूनानी साहित्य में 'कुपिड' कहते हैं, जो पुष्पधन्वा है। संस्कृत साहित्य में 'पंच पुष्पधन्वा' कहा जाता है। इसके आगमन से प्रकृति जगत में हलचल मच जाती है। चारों ओर मादकता, सरसता और कमनीयता का वातावरण छाया रहता है। बसंत प्रदूषण का हंता है। वह हरीतिमा, सुरभि, उल्लास और नैसर्गिक सौंदर्य का सृजन करता है। 'कोकिला नन्दिनी अमराई में पंचम स्वर में मशक वाद्य यानी शहनाई बजाने लगती', में बसंत के साथ कई मिथक जुड़े हुए हैं।

आज प्रकृति प्रदूषण के रोग से ग्रस्त है। ऐसे दूषित वातावरण में साहित्य कैसे लिखा जाएगा? स्वस्थ साहित्य के लिए स्वस्थ पर्यावरण चाहिए। वृक्षों के संहार और अतिक्रमणों के प्रहार से प्रकृति की एंथली आम्रकुंज, नारिफलद्रुम चित्रित कुटीर, कदली वन और प्रमोदवन में बसंतागमन अवरुद्ध है। अब साहित्य में बसंत और बसंत में साहित्य कैसे आएगा। प्रदूषण का उन्मूलन और प्रकृति को संरक्षण चाहिए तभी साहित्य का सृजन होगा और उल्लास का बसंत मुस्कुराएगा।

पौराणिक मिथक : देवी पुराण के अनुसार शिव की समाधि भंग करने के लिए कामगिरि के ऊपर पार्वती सहित कामदेव और उनकी दोनों पत्नी रति और प्रीति के संग बसंत भी थे। कामदेव ने समाधि भंग करने के लिए लालकमल, नीलकमल, आम्रमंजरी, रजनीगंधा और अशोक पुष्पों से पंचबाणों की रचना की थी। वासंती भ्रमर और लता से धनुष मंडित था। कोकिला मादकता घोल रही थी। पुष्पबाण के प्रक्षेपण से शिव की समाधि भंग हुई कामदेव भस्म हो गया। शिव का तीसरा आग्नेयनेत्र खुल चुका था। रति वासना और प्रीति प्रेम का प्रतीक बसंत उद्दीपनीय ऊर्जा है।

बसंत धरती पर नहीं अपितु आकाश के मध्य स्थित अमृत सागर के तट पर मणिद्वीप में अपना सौंदर्य बिखेरता है। उसकी दोनों पत्नियां मधुश्री और माधवश्री मणिद्वीप में मादकता और सुषमा का संचार करती हैं। वासंती कदंबों की पीताभा से शोभित देवी महेश्वरी के शृंगार मंडन में दोनों बसंतश्री सक्रिय होती हैं।

यूनानी मिथक : आकाश देवी हेरा का वाहन कोकिल है, जो बसंत का सहचर है। संगीत में पंचम स्वर की प्रेरिका कोकिल है। यह आम्र कुंज में विचरण करती हुई प्रकृति को गुंजायमान करती है। पंचम स्वर की गायन बेला बसंत है। रोम में देवी फेमिना रति और नारी सौंदर्य की अधिष्ठात्री है। बसंत में उनकी शोभायात्रा निकाली जाती है। फेमिना पर्व के दिन रोम की बालाएं कशाघात करती हुई पुरुषों को नारी वेश में नचाती हैं। फेमिना पर्व रोम का बसंतोत्सव है। बौद्ध काल में नवेलियां अशोक वृक्ष पर पादाघात करती थीं जिससे अशोक के फूल खिल उठते थे। इस वासंती आयोजन को 'अशोकोत्सव' कहा जाता है। वीनस यूनानी रति है। अंग्रेज़ी साहित्य में इनकी चर्चा है, जो सौंदर्य की अधिष्ठात्री है। इनसे रसात्मक साहित्य की सृष्टि होती है। मिस्री वासंती देवी फल्लिका वीनस की रूपांतर है।

वाग्देवी और बसंत : बसंत को 'श्रीपंचमी' कहते हैं। इसी दिन संगीत, कला और काव्य की अधिष्ठात्री वाग्देवी सरस्वती का भी जन्म हुआ था और इसी दिन स्वच्छंदवादी काव्यधारा छायावाद के कवि निराला का जन्म हुआ था। उनकी सरस्वती वंदना 'वर दे, वीणा वादिनी वर दे', हिंदी की सर्वोच्च सारस्वत स्तुति है। बसंत पंचमी के दिन नवाक्षर कवियों की साहित्य साधना आरंभ होती है। 'साहित्य में बसंत और बसंत में साहित्य' यह ललित शीर्षक सार्थक हो जाता है। *सामवेद* में सरस्वती की वंदना है 'उतः नः प्रिया प्रियासु सप्न स्वसाः सुजुष्टा सरस्वती स्तोमया।' वाग्देवी की सात बहनें हैं। वाग्देवी पुस्तकधारिणी है। वह कुंदपुष्प वर्णा, तुषारहार वृता और हंसवाहिनी है। हंस ज्ञान का प्रतीक है। क्षीर-नीर का विवेक हंस करता है।

यूनानी साहित्य में वाग्देवी : महाकवि होमर ने रंग-बिरंगी सरस्वती की चर्चा की है। जिनमें एक म्यूज है जो संगीत की अधिष्ठात्री है। मिनर्वा प्रतियोगिता साहित्य एवं संभाषण की देवी है। इसी प्रकार साहित्य और काव्य की विधाओं की अलग-अलग सरस्वती हैं। यूनानी कवयित्री सैफो रहस्यवादी कविता की सरस्वती हैं। उन्होंने अपनी कविता में गुलाब फूल के सौंदर्य में ब्रह्म के सौंदर्य की झलक देखी है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'जायसी की भूमिका' में सैफो की चर्चा की है।

संस्कृत साहित्य में बसंत : आदिकवि वाल्मीकि ने *रामायण* में षड्ऋतुओं का चित्रात्मक वर्णन किया है। किष्किंधा निवास के समय राम-लक्ष्मण को संबोधित करते हुए कहते हैं–

।। पश्य सौमित्र! अद्य वसंतागमन।। : जयदेव कृत *गीतगोविंद* एक ललित रचना है जिसमें कवि ने बसंत के प्राकृतिक सौंदर्य का बड़ा ही भव्य चित्रांकन किया है–

ललित लवंग लता परिशीलन कोमल मलय समीरे
मधुकर निकर करम्बित कोकिल कूजति कुंज कुटीरे।

बसंतागमन के समय वनों में पलाश के लाल-लाल फूल अपनी लालिमा से सौंदर्यान्वित करने लगते हैं। पलाश वन में जाकर जब पथिक खो जाता है तब उसे कबीरदास के एक दोहे की याद आने लगती है–

लाली मेरे लाल की जित देखूं तित लाल

लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल।।

कवि माघ कहते हैं–

नव पलाश वनं पुरः, स्फुट पराग परागत पंकजम्
मृदुलतांतलतान्तं लोकयत सुरभि सुरभि सुमनोहरे।

काव्य कोकिल कालिदास ने बसंत का बड़ा मनोरम चित्रण किया है। *ऋतु संहार* के अनुसार 'लाल-लाल पलाश से संवृत विपिन ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो लाल रेशमी चुनरी पहनी हुई वनश्री मंद-मंद मुस्करा रही हो। उन्होंने–बसंत में पुष्पित और विकसित द्रुमों का वर्णन इन शब्दों में किया है–

सद्रुमाः सपुष्पाः सलिलं सपद्मं
स्त्रियः सकामाः पवनः सुगंधः।

अंग्रेज़ी साहित्य में बसंत : यूरोपीय देशों में ऋतुराज बसंत की शोभा भी दर्शनीय होती है। रंग-बिरंगे पुष्पों से आच्छादित निकुंजों में कोकिला कलवादिनी बन जाती हैं। कवि थामस नैश का उद्‌गार श्रोतव्य है।

'बसंत'! प्रिय बसंत! वर्ष का ऋतुराज कोकिला कूकती है
-कू-कू-जग-जग
टू-विट-वी

उनका कहना है कि जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जागे, हममें शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौंदर्य-प्रेम न जाग्रत हो, जो हममें सच्चा संकल्प और कठिनाइयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे–वह आज हमारे लिए बेकार है।

गोल्डस्मिथ प्रकृति के कुशल चितेरे हैं। उनकी रचना 'डिज़ार्टस्ट विलेज' का अनुवाद श्रीधर पाठक ने 'उजाड़ ग्राम' शीर्षक से किया है। जब गांव में बसंत आता है तब कवि आनंद और उल्लास से भर जाता है।

झुरमुटों के बीच बसा ग्राम
कितना सुंदर प्रतीत होता है
जहां बसंत मुस्कराता है
मानवीय अवसाद को भगाता है।

अंग्रेज़ी साहित्य के प्रकृति कवि वर्डस्वर्थ, कीट्स आदि की कविताओं में वसन एवं कोकिल का वर्णन है। हिंदी के प्रकृति कवि पंत वर्डस्वर्थ की कई कविताओं से प्रेरित रहे हैं। टेनिसन ने जीवन की क्षणभंगुरता पर 'क्षीण बसंत' ही लिख डाला। माखनलाल चतुर्वेदी भी अंग्रेज़ी कविताओं से प्रेरित रहे हैं। कीट्स की 'नाइटिंगल' से प्रेरित होकर उन्होंने कोकिला पर कविता लिखी थी। कोकिला स्वतंत्रता का प्रतीक है। टेनिसन के शब्दों में–

अहा! गुलाब बसंत के साथ अदृश्य हो गया
वैसे ही मेरा सुगंधमय यौवन भी
शनैः-शनैः क्षीण होता जाएगा।

टेनिसन की इस कविता का साम्य हिंदी साहित्य के इस दोहे में पाया जाता है–

माली आवत देखि कर, कलियन करै पुकार
फूली-फूली बीन लीन्हीं, कालहि हमारी बार।

हिंदी-साहित्य में बसंत : अपभ्रंश और प्राकृतभाषा में वर्णित बसंत की परंपरा हिंदी साहित्य के होमर महाकवि चंद्रबरदाई कृत *पृथ्वीराज रासो* में लक्षित हुई। युद्ध और प्रेम को उद्दीप्त करने के लिए बसंत का परिदृश्य आवश्यक होता है। आगे चलकर कवि जगनिक ने *परमाल रासों* के आल्हार खंड में युद्ध और प्रेम का वर्णन प्रस्तुत किया *जाकी बिटिया सुंदर दीखी ता पर धाई चले तलवार। 'बारह बरिस तक कुक्कुर-जीए, सोलह बरिस तक जीए सियार, अठारह बरिस तक छत्री जीए, आगे जीवन को धिक्कार।* रासो काव्य में दो रसों का विपाक अनिवार्य माना जाता था। वीर और शृंगार। शृंगार रस में बसंत वर्णन शौर्य प्रदर्शन के लिए होता था। उस समय देश की एकता और अखंडता बनाए रखने के लिए सैनिकों में उत्साह भरा जाता था। आतंकवादी तुर्कों को मौत के घाट उतारने के लिए केतून की रानी के नेतृत्व में तीन सौ हाड़ा जाति के जवानों ने नारी वेश में केशर खां पर आक्रमण कर बसंत का त्यौहार मनाया था। डिंगल साहित्य के कवि हमेंचंद्र की राजपूतानियां अपने कायर पति के युद्ध में मारे जाने पर फूली नहीं समा रही हैं।

भल्ला हुआ जू मारिया, बहिणा म्हारो कंत।

बसंत आ गया है। प्रकृति ने नव पल्लव-पुष्प-लताओं से शृंगार किया है। सरोवरों में लाल कमल खिले हैं। पलाश वन रक्तवर्ण में डूबे हुए हैं। इधर कोकिला पंचम स्वर में आलाप करती है और उधर युद्ध क्षेत्र में मारूगति से बाजे बज रहे हैं। 'आहेरिया बसंत' मनाया जा रहा है। पृथ्वीराज चौहान को चंदबरदाई राग बसंत सुना रहे हैं–

रत्त-रत्त बसंत मत सरसा संयोग भोगयते
मवरि भाव मुल्लै, भ्रसंत मकरंदव सीसं।
षट् रिति बारह मास गय, फिरि आयौ रू बसंत
सो रिति चंद बताउ मुहि, तिया न भावै कंत।
जो नलिनी नीरहि तजै, सेस तजै सुरतंत।
जो सुबास मधुकर तजै, तौ तिय तजै सुकंव।

हिंदी निर्गुण काव्यधारा प्रेमाश्रयी शाखा के कवि जायसी ने *पदमावत* में बारहमासा का वर्णन कर 'रहस्यवाद' का परिचय दिया है। बसंत में नवेलियां पलाशी परिधानों में सजकर चांचर गाती हैं–

नवल सिंगार प्रकृतिहि कीन्हा
ससि पसार सिंदूर हि दीन्हा।

अभिनव जयदेव मैथिल कोकिल ठाकुर विद्यापति के वासंती गीत आज भी मिथिलांचलों की अमराइयों में गूंजते हैं–

सरस बसंत समय भई पावल
दक्खिन पवन बहि धीरे।

रीति मुक्त काव्यधारा में कवि पदमाकर ने अपनी वासंती कविता में चार चांद लगाए हैं। ब्रज बोली की माधुरी में सिक्ता उनका कवित्त छंद दर्शनीय है। उन्होंने विश्व के कण-कण में कुसुमाकर की कमनीय छटा देखी है–

कूलन में, केलि में, कछारन में, कुंजन में
क्यारिन में, कलित कलीन किलकंत है
कहै 'पद्‌माकर' परागहु में, पौनहु में,
पातन में, पिक में, पलासन पगंत है
द्वार में, दिसान में, दुनी में, देस-देसन में,
बीथिन में, ब्रज में, नवेलिन में, बेलिन में,
देखा दीप-दीपन में, दीपत दिगंत हैं
बनन में, बागन में, बगरयो बसंत है।

कृष्ण भक्तों के कई संप्रदाय थे जिनमें एक निरंजनी शाखा थी। हरिदास स्वयं इसके संस्थापक थे। इनकी मंडली में कई कृष्ण-राधा के उपासक थे जो ऋतु गीत गाया करते थे। बसंत उनका प्रिय ऋतु गीत था–

सखी हो मास बसंत बिराजै
गोपी-ग्वाल घेरि गोकुल में वेणु मधुर ध्वनि बाजै
भागे सुरत पांच नग गुथ्या, मन मोती मधि आया।
विकसत कमल परम निधि प्रगटत हरि कूं हार चढ़ाया।

गरब गुलाल चरण तल चुरिया, अगर-अबीर खिड़ाया
परमल प्रीत परसि परि पूरन पिवु में प्राण समाया।
अंक नालि निहचल नव निरमय ए कौतूहल भारी।
जन हरिदास आनंद निज नगरी खेलै फाग मुरारी।

कवि भूषण के भ्राता चिंतामणि रीति काव्यधारा के कवि थे। वे शृंगार वर्णन में निपुण थे। ऋतु वर्णन में उनका बसंत वर्णन अत्यंत रोचक है–

कोकिल कूक सुने उमगे मन
और सुभाउ भयो अबही को।
फूली लता द्रुम कुंज सुहात
लागे अलि गुंजन भावत जी को।

महाकवि देव प्रकृति के सौंदर्य के चितेरे थे। वे दृश्यांकन में कुशल थे। पुष्पों, लताओं और हरीतिमा से युक्त बसंत को उन्होंने इस प्रकार सौंदर्यान्वित किया है।

'केसरि, किंसुक और बरना, कचनारनिकी रचना उरसूली सेवती 'देव' गुलाब, मलै मिलि, मालती, मल्लि, मालिंदनि हूली, चंपक, दाडिम, नूत महाडर, पांडर हार डरावनि फूली, वा भयमंत बसंत मैं चाहत, कंत चल्यो हम ही किंधौ मूली।

रससिद्ध कवि बिहारी ने अपनी सतसई में बसंत की मादकता का बड़ा ही रसात्मक वर्णन किया है, 'मंजरी की भीनी-भीनी गंध पाकर माधवी कुंज में झुंड के झुंड मदमाते भौंरें रसपान के लिए मंडरा रहे हैं।' आम्रमंजरी ने उन्हें दीवाना कर दिया है–

छकि रसाल सौरभ सने, मधुर माधवी गंधा
ठौर-ठौर झौरत झपत, भौंर-भौंर मधु अंत।

आधुनिक हिंदी गद्य के जन्मदाता भारतेंदु हरिश्चंद्र हिंदी के नवरत्नों में चर्चित रहे हैं। इनकी कविता में राष्ट्रीयता की झलक पाई जाती है। इनकी अनूदित रचना 'कर्पूर मंजरी' में बसंत का बड़ा ही सजीव चित्रण है–

फूलेंगे पसाल बन आगि-सी लागय क्रूर
कोकिल कुहूकि कल सबद सुनावैंगे।
त्यौंही सखि लोक सबै गावैगो धमरि,
धीर हरण अबीर बीर सब ही उड़ावैंगे
सावधान होहु की वियोगिनी संभारि तन।

रीतिमुक्त काव्यधारा के कवि घनानंद ने अपनी कविता में सरस बसंत का अत्यंत मनोहर वर्णन किया है। जब बसंत आता है तब उन्हें यमुना के किनारे अपनी प्रेयसी सुजान की मधुमय छवि दीख पड़ती है। उन्होंने बसंत का सांगोपांग वर्णन किया है–

ललित फागु रचना रची, विलसत सरक्ष बसंत
जै-जै राधा माधवी जय बन माली कंत।
सूरति सरस बसंत की, बनमाली अभिराम
प्रफुलित रूप तस, मोहन अगनित काम।
मुकूलित बस बसंत को, अद्‌भुत अमित-विकास।
राधा-माधव-माधुरी, पवित सरसौ प्यास।

आधुनिक हिंदी काव्य की भूषण सुभद्रा कुमारी चौहान उस समय काव्य मंच पर उतरी जिस समय देश में गांधीजी का सत्याग्रह आंदोलन विप्लव की चरम सीमा पर पहुंच चुका था। नारियों में देश प्रेम की भावना उद्वेलित करने के लिए उन्होंने 'झांसी की रानी' और युवकों में शौर्य जगाने के लिए 'वीरों का कैसा हो बसंत' लिखा।

'वीरों का कैसा हो बसंत।
आ रही हिमालय से पुकार,
है उदधि गरजता बार-बार
पूरबी-पश्चिम भू नभ अपार
पूछ रहे हैं दिग दिगंत
वीरों का कैसा हो बसंत?
फूली सरसों ने दिया रंग।

प्रसाद जी की *कामायनी* में नील-गुलाबी-बसंत जब ग्राम्यांचलों में बसंत श्री के साथ उतरती हैं तब खेतों में सरसों के पीले फूल, मटर के गुलाबी रंग और अलसी के प्रसून उनका स्वागत करते हैं। बसंत का रंग पीला, मटर का गुलाबी, लाल और अलसी का नीला रंग इन त्रय रंगों का संयोजन कवि प्रसाद ने अपनी *कामायनी* में किया है यानी बसंत में साहित्य की छवि दीखती है। *कामायनी* की नायिका श्रद्धा कामगोत्रणा थी इसलिए वह कामायनी बोली जाती थी। वह ईरानी थी। वह उस देश में पाई जाने वाली नीले रोम वाली भेड़ों के ऊन से निर्मित परिधान पहनती थी। श्रद्धा उसे शीत-बसंत से पहनना शुरू कर देती थी। असीरिया प्राचीन असुर देश की रानी बसंत कालीन पीले गुलाब के फूलों से अपना शृंगार करती थी। ईरान-इराक-कंधार आदि असीरियाई थे। प्रसाद जी ने नील-गुलाबी बसंत इन तीन रंगों से मिश्रित सौंदर्य का वर्णन किया है। इस प्रकार बसंत में साहित्य आ गया है। श्रद्धा नीले परिधान में भव्य लगती थी। उसका गोरा तन गुलाबी रंग का था। वह मसृण और सुकुमार लगती थी।

नील परिधान बीच सुकुमार
खुला हुआ अधखुला अंग
खिला हुआ ज्यों बिजली का फूल
मेघ बन बीच गुलाबी रंग।

जब श्रद्धा निराश मनु से हिमालय के शैल शिखर पर मिलती है तब मनु उन्हें बसंत के दूत कहते हैं–

कौन हो तुम? बसंत के दूत
विरस पतझड़ में अति सुकुमार
घन तिमिर में चपला की रेख
तपन में शीतल मंद बयार।

मनु के पतझड़ी जीवन में श्रद्धा आशा, विश्वास और माधुर्य की बसंत बनकर आई थी।

महाकवि दान्ते कृत *डिवाइन आफ़ कामेडिया* की नायिका बिट्रिक भी नीलाक्षी थी। संस्कृत की कवयित्री विजयांका ने अपने को 'नीलोत्पला' यानी नील सरस्वती कहती हुई कवि दंडी को फटकार लगाई थी। यूरोपीय साहित्य में नील वर्ण नायिकाएं देवांगना होती थीं। वे नील बसंतश्री कहलाती थी। नीरिड, ओसियाड, हेलेन, वीनस, रीया आदि नीलाक्षी वासंती गुलाबी वर्णा थीं।

आज प्रकृति प्रदूषण के रोग से ग्रस्त है। ऐसे दूषित वातावरण में साहित्य कैसे लिखा जाएगा? स्वस्थ साहित्य के लिए स्वरूप पर्यावरण चाहिए। वृक्षों के संहार और अतिक्रमणों के प्रहार में प्रकृति की एंथली आम्रकुंज, नारिफिलद्रुम चित्रित कुटीर, कदली वन और प्रमोदवन में बसंतागमन अवरुद्ध है। अब साहित्य में बसंत और बसंत में साहित्य कैसे आएगा। प्रदूषण का उन्मूलन और प्रकृति को संरक्षण चाहिए तभी साहित्य का सृजन होगा और उल्लास का बसंत मुस्कुराएगा। ❑

संपर्क : डंकीनगंज, सिद्धार्थनगर-272001 (उ.प्र.)

सखि, बसंत आया

दादूराम शर्मा

शिशिर के पतझड़ से अपर्णा हुई वनस्पतियों का तप पूर्ण हुआ। रक्त किसलयों में उनका यौवन और प्रस्फुटित पुष्पों में उनके हृदय का सहज उल्लास फूट पड़ा है, सुरभित सुमनों के हार लेकर वे सज-धजकर स्वागत के लिए प्रस्तुत हैं, कोकिल पंचम स्वर में प्रशस्ति गीत गा रहा है, गुंजारते मधुकर मंत्रोच्चार कर रहे हैं, शीतल मंद सुगंध पवन पंखा झलते हुए चल रहा है और चहचहाते पक्षियों की जयध्वनि से आकाश मुखरित हो रहा है, क्योंकि ऋतुराज बसंत अपने सहचर कुसुमायुध कामदेव के साथ पदार्पण कर रहा है। उत्तरायण होते सूर्य की किरणों में सुखद उष्णता आ गई है, प्रकृति के कण-कण से और वृक्ष-वल्लरियों के पोर-पोर से अल्हड़ यौवन की आह्लादक मादकता छलकी पड़ रही है, जिसके प्रभाव से सभी चेतन प्राणी मदविह्वल हो उठे हैं धवल चंद्रिका के भार से बोझिल पवन धीरे-धीरे चल रही है– *चांदनी के भारन दिखात उनयो-सो चंद्र/गंध ही के भारन बहत मंद-मंद पौन।*

> *बेचारे बसंत को अब पैर टिकाने के लिए जगह की तंगी हो रही है! वह लंगड़ाते हुए आता है और आहें भरते हुए चला जाता है! किंतु, तथाकथित सभ्य मानव ने बड़ी जल्दी अपनी ग़लती का एहसास कर लिया है और प्रकृति के पर्यावरण को संतुलित करने के लिए वृक्षारोपण में संलग्न हो गया है। अब वह दिन दूर नहीं जब धरती फिर वृक्ष-लताओं से हरी-भरी हो जाएगी और ऋतुराज पूर्ववत् राजसी ठाठ-बाट के साथ पदार्पण करेगा।*

महाप्राण निराला के शब्दों में– *लता-मुकुल-हार गंध भार भर बही पवन मंद-मंदतर/जागी नयनों में वन-यौवन की माया! सखि, बसंत आया।*

बसंत में रात-दिन का परिणाम बराबर होता है, शिशिर के शीत का प्रकोप शांत होने से बसंत ऋतु सर्वाधिक सुखद होती है। बसंत ऋतुराज कहलाता है। यह यौवन का सौंदर्य का, आकर्षण का, आह्लादकता और मादकता का पर्यायवाची है। जब बसंत आता है तो वृक्ष पुष्पित होकर वातावरण में अपनी हंसी और सुगंध बिखेरने लगते हैं, सरोवरों में कमल खिल जाते हैं, नवयुवतियों का यौवन उफान लेने लगता है, वायु सुवासित हो जाती है, दिन और संध्याकाल सुंदर और सुखद लगने लगते हैं। इस प्रकार बसंत में सब कुछ चारू से चारूतर हो जाता है–

द्रुमाः सपुष्पाः सलिलं सपद्मं स्त्रियः सकामाः पवनः सुगंधिः।
सुखा प्रदोषाः दिवसाश्च रम्याः सर्वप्रिये चारूतरं वसन्ते।।

ऋतुसंहार (कालिदास)

पदमाकर के अनुसार–भौरों की गुंजार में पहले की अपेक्षा कुछ अधिक मादक विशिष्टता आ जाती है, तरुणों के अल्हड़ यौवन में आकर्षक उफान आ जाता है और पक्षियों के कलरव में भी विशेष मादक मिठास भर जाती है– *औरे भांति कुंजन में गुंजरत भौंर-भीर औरे डौर झौरन में बौरन के ह्वै गए/कहै पदमाकर सु औरे भांति गलियान, छलिया छबीले छैल औरे छबि छ्वै गए/औरे भांति विहग समाज में अवाज होति, अबै ऋतुराज के न आज दिन द्वै गए/औरे रस, औरे रीति, औरे राग औरे रंग, औरे तन औरे मन औरे वन ह्वै गए।*

कालिदास के अनुसार–शीतलहर से मुक्त सुखदायक पवन मंजरियों से लदी आम की डालियों को हिलाता हुआ, कोकिल के मधुर स्वर को दिशाओं में फैलाता हुआ और लोगों के हृदयों को हरता हुआ बहने लगता है– *आकम्पयन् कुसुमिताः सहकारशाखाः विस्तारयन् परभृतस्य वचांसि दिक्षु। वायुर्विवाति हृदयानि हरन्नराणां नीहारपातविगमात् सुभगो बसंते।।*

मदिर गंधभार से अलसाए कुंजसमीर को बिहारी मतवाले हाथी के रूप में प्रस्तुत करते हैं। गुंजार करती भ्रमर-पंक्ति जिसके गले में टुनुन-टुनुन करती घंटियां हैं और जिसके कपोलों से मधु (पुष्पों का रस) रूपी मद जल चू रहा है–

रनित भृंग घंटावली झरत दान मधुनीर।
मंद-मंद आवत चल्यो कुंजर कुंज समीर।।

तो कभी सुदूर दक्षिण देश से आने वाला मलयानिल उन्हें थकित बटोही के रूप में दिखाई देता है, जिसके शरीर से मकरंद कण रूपी पसीने की बूंदें चू रही हैं और जो प्रत्येक पेड़ के नीचे विश्राम कर-करके अपनी थकान मिटाता हुआ धीरे-धीरे उत्तर दिशा में अपने मंतव्य की ओर बढ़ रहा है–

चुवत स्वेद मकरंद कन तरू-तरू तर विरमाय
आवत दच्छिन देस तैं थकित बटोही बाय।

कविवर देव ने बसंत की महाराज कामदेव के शिशु के रूप में बड़ी ही अनूठी और कमनीय कल्पना की है। उस शिशु राजकुमार बसंत को वृक्ष के पलने पर किसलयों की कोमल शय्या पर सुलाया जाता है, रंब-बिरंगे फूलों का झबला उसके शरीर की शोभा में चार चांद लगा देता है, पवन उसके पलने को झुलाता है, मोर अपने मनोहर नृत्य द्वारा और शुक सम्भाषण करके उसका मनोरंजन करते हैं, कोयल सुरीले स्वर में उसे लोरी सुनाती है। कंजकली रूपी नायिका (नागरी महिला) लतारूपी साड़ी का पल्ला अपने सिर पर डालकर उस बच्चे की डीठ (नज़र) उतारती है और गुलाब प्रातःकाल अपने प्रस्फुटित होते हुए पुष्पों से चटाक की ध्वनि करके (चुटकी बजाकर) उसे जगाता है– *डार द्रुम पलना बिछौना नव पल्लव के, सुमन झंगूला सोहै तन छवि भारी दै/पवन झुलावै, केकी कीर बहरावै देव कोकिल हलावै हुलसावै करतारी दै/पूरित पराग सौं उतारो करै राई लोन, कंजकली नायिका लतानि सिर सारी दै/मदन महीपजू को बाल बसंत ताहि, प्रातहि जगावै गुलाब चटकारी दै।।*

रसिक गोविंद भी 'नज़र उतारने' का उल्लेख करते हैं–

मुखरित पल्लव फूलसुगंध परागहि झारत।

जुग मुख निरखि विपिन मनु राईलोन उतारत।।

कालिदास बसंत को आक्रामक योद्धा के रूप में प्रस्तुत करते हैं जिसने आम्र मंजरियों के तीखे तीर और भ्रमरावली का धनुष लेकर कामी जनों पर हमला बोल दिया है–

प्रफुल्ल-चूताकुर-तीक्ष्ण-सायकः द्विरेकमाला विलसद्धनुर्गुणः।

मनांसि भेदधुं सुरत प्रसंगिनां बसंतयोद्धा समुपागतः प्रिये।।

बेनी कवि उसे कामदेव रूपी अंग्रेज़ सम्राट का दुर्दांत आक्रमणकारी सेनापति बतलाते हैं, जो बंदूक–तोप आदि अस्त्र-शस्त्र लेकर विरहिणी-अबलाओं पर टूट पड़ा है– *धायनि कुसुम केसू किसलय कुमेदान, कोकिला कलापकारी कारतूस जंगी है/तौपें विकरारें जे बेपात भईं डारैं, दारूधूरि धारैं और गुलाब गोला जंगी है/बेनीजू प्रवीन कहैं मंजरी संगीन पौन, बाजत तंदूर भौंर तूर तासु संगी है/बैरी बलवान विरहीन अबलान पर/ आयो है बसंत कम्पू मदन फिरंगी है।।*

मैथिल-कोकिल विद्यापति ने ऋतुराज के ठाटबाट का बड़ा ही मनोहर और आकर्षक चित्र खींचा है–बसंत राजा के समान बड़े ठाट-बाट के साथ वनस्थली में प्रवेश करता है, वृक्ष उसके लिए नवपल्ल्वों का सिंहासन प्रस्तुत करते हैं, माथे पर कुसुमों का छत्र लगा देते हैं, आम्र मंजरियां मुकुट बन जाती हैं। मोर स्वागत में नाचने लगते हैं, पक्षीगण स्वतिवाचन करने लगते हैं। कुसुम परागों का श्वेत वितान (चंदोवा) तन जाता है, कुंदलता की पताकाएं फहराने लगती हैं, गुलाब उसका तरकस और अशोक पल्लव वाण बन जाते हैं– *नृप–आसन तव पीठल पात/कांचन कुसुम छत्र धर माथ/मौलि रसाल मुकुल भेल ताय/सम्मुख कोकिल पंचम गाय/सिखिकुल नाचत अलिकुज जंत्र/द्विजकुल आन पढ़ आसिस मंत्र/चंडातप उड़े कुसुम पराग/ मलय पवन सह भेल अनुराग/कुंदकली तरू धएल निसान/पाटल तूण असोक दल बान।*

सेनापति ने भी बसंत को समस्त साज-बाज के साथ प्रकृति के रंगमंच पर पदार्पण करने वाले श्रीसम्पन्न सम्राट के रूप में प्रस्तुत किया है–*वरन-वरन तरू फूले उपवन वन सोई चतुरंग संग दल लहियत है/बंदी जिमि बोलत विरद वीर कोकिल है, गुंजत मधुपगन गुन गहियत है/आवै आस-पास पुहुपन की सुवास सोई, सौंधे के सुगंध मांझ सने रहियत है/सोभा को समाज 'सेनापति' सुख साज आज आवत बसंत ऋतुराज कहियत है।।*

रसिक गोविंद का बसंत एक दानशील राजा है–*फूल फलन के भार डार झुकियों छवि साजै/मनु पसारि दई भुजा देन फल पथिकन काजै। मधु मकरंद लुब्ध अलि मुदित मत्त मन/विरद पढ़त ऋतुराज नृपति के मनु बंदी जन।।*

मधु-माधव (चैत्र-वैशाख) बसंत के दो माह माने गए हैं। किंतु बसंत का अवतरण आम की मादक मंजरियों और अशोक के रक्त किसलयों, पुष्पों के साथ 'बसंत पंचमी' से ही हो जाता है। ऐसी कवि मान्यता या कवि प्रसिद्धि है कि अशोक बसंत पंचमी के दिन सुंदरियों के महावर-रंगे रुनझुनाते नूपुरों वाले चरणों के प्रहार से पुष्पित होता है किंतु, *कुमार संभव* के अनुसार भगवान शिव का तपोभंग करने के लिए कामदेव द्वारा असमय में उपस्थित किए गए बसंतकाल में तो अशोक अपने कोमल किसलयों के साथ अपने-आप सुंदरियों के सनुपूर चरणताड़न के बिना ही पुष्पित हो उठा था–

असूतसद्यः कुसुमान्यशोकः स्कंधात् प्रभृत्येव सपल्लवानि।

पादेन नापैक्षत सुंदरीणां संपर्कमासिंजित-नूपुरेण।

अब पलाश की बारी है। पतझड़ से मृतप्राय-सी लगने वाली इसकी शाखाओं में लाल-गुलाबी पुष्पगुच्छों के रूप में नवजीवन फूट पड़ा है। यह आपाद-मस्तक मनभावन सुमनों से लद गया है। अनुराग में रंगे पलाश का रोम-रोम हंस रहा है। इसके फूलों को 'किंशुक' कहा जाता है। ब्रजभाषा के 'केसू' और खड़ी बोली के 'टेसू' इसी के तद्भव रूप हैं। प्रकृति-प्रेमी कवियों को किंशुक बड़े ही आकर्षक और कामोद्दीपक प्रतीत हुए हैं। कालिदास ने उन्हें आग की लपटों से उपमित किया है। किंशुकों के रक्त परिधान में सजी वन-भूमि नववधू-सी सुशोभित होने लगती है– *आदीप्त-वह्नि-सदृशैःमरूतावधूतैः सर्वत्र किंशुक-वनैः कुसुमावनम्रैः।/सद्यो वसंत समये हि समाचितेयं रक्तांशुका नववधूरिव भाति भूमिः।। –ऋतुसंहार*

कुमार संभव में वे इसकी द्वितीया के चंद्र जैसी वक्राकार पंखुड़ियों को नायक बसंत द्वारा नायिका वनस्थली के अंगों पर बनाए गए नखक्षत बतलाते हैं–

बालेन्दु वक्राण्यविकास-भावाद् बभुः पलाशान्यतिलोहितानि

सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्।।

गीत गोविंदकार जयदेव किंशुकदलों को युवाओं के हृदय को विदीर्ण करने वाले कामदेव के पैने नाखूनों से उपमित करते हैं– *युवजन हृदय-विदारण-मनसिज-नखरूचि-किंशुक-जाले!*

जायसी के अनुसार 'कुसुम धन्वा कामदेव के तीखे तीरों से विद्ध विरहीजनों के क्षत-विक्षत अंगों से जो रक्त की धारा निकली है, उसी में डूबकर वनस्पतियों के पल्लव और पलाश के पुष्प लाल हो उठे हैं–

पंचम विरह पंच सर मारै। रकत रोइ सगरो वन ढारै।।

बूड़ि उठे सब तरुवर पाता। भीजि मजीठ टेसु वन राता।।

किंशुकों के वृंतों से जुड़ी घुंडियां श्यानवर्ण की होती हैं जिस पर लाल-लाल पंखुड़ियां फबती हैं। लगता है, जैसे किंशुकों को काले रंग में रंगकर लाल स्याही में डुबो दिया गया हो–

लाल-लाल केसू फूलि रहे हैं विसाल संग,

स्याम रंग भौंटि मानो मसि में मिलाए हैं।

नीचे से काले और ऊपर से लाल किंशुकों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है, मानो विरहीजनों को जलाने के लिए कामदेव ने ढेर सारे कोयले प्रज्ज्वलित कर लिए हैं, जो आधे तो सुलगकर दहकने लगे हैं और आधे अभी सुलग नहीं पाए हैं– *आधे अनसुलगि सुलगि रहे आधे मानो, विरहीदहन काम क्वैला परचाए हैं*– (सेनापति) नीचे के घुंडी वाले काले हिस्से की बिना सुलगे कोयले से और ऊपर के लाल दलों की दहकते अंगारों से उत्प्रेक्षा कितनी अनूठी बन पड़ी है! कहीं ये कोयले पूरी तरह प्रज्वलित हो उठे तो बेचारे विरहियों का क्या होगा? विरहिणी ब्रजांगनाएं अपने प्रियतम कृष्ण को मथुरा नगर से ब्रज की वनभूमि में लौट आने के लिए इन्हीं मादक दाहक रक्त पुष्पों के पुष्पित हो जाने के समाचार को अंतिम और अचूक संदेश के रूप में उद्धव के द्वारा प्रेषित करती है– *ऊधो, यह सूधो सो संदेशों कहि दीजे भलो, हमारे ह्यां न फूले वन कुंज हैं/किंसुक गुलाब कचनार और अनारन की डारन पै डोलत अंगारन के पुंज हैं।।*

और उद्धव उनकी ओर से कृष्ण से मथुरा के राजकीय ऐश्वर्य को छोड़कर ब्रज चले चलने की पुरज़ोर सिफ़ारिश करने लगते हैं–

ए ब्रज चंद चलौ किन वा ब्रज लूकैं बसंत की ऊकन लागीं

त्यों, पदमाकर, पैखो पलासन पावक-सी मनौ फूंकन लागीं।।

विद्यापति ने टेसू को प्रकृति नायिका की मांग में भरे सिंदूर से उपमित किया है– *टेसू कुसुम सिंदूर सम भास*

कविवर पंत के अनुसार पुष्पित पलाश के रूप में बसंत की समग्र

कामनाएं ही जैसे मूर्तिमान हो उठती हैं। सैकड़ों अन्य पुष्पों का सम्मिलित सौंदर्य भी उसके कुसुम-वैभव की बराबरी नही कर सकता, उसने तो प्रकृति में सर्वत्र नवजीवन की ज्वाला धधका दी है-*वर्ण-वर्ण की हरीतिमा का वन में भरा विकास/शत-शत पुष्पों के रत्नों की रत्नच्छटा पलाश/प्रकट नहीं कर सकती यह वैभव पुष्कल उल्लास/वर्णस्वरों से मुखर तुम्हारे मौन पुष्प अंगार/यौवन के नवरक्त तेज का जिनमें मंदिर उभार/हृदय रक्त ही अर्पित कर मधु को अर्पण श्री शाल/तुमने जग में आज जला दी दिशि-दिशि जीवन-ज्वाल।*

बसंत में सरसों के खेत के खेत जब पीले पुष्पों से आच्छादित हो जाते हैं तो उनका नयनाभिराम सौंदर्य मन को मोह लेता है। लगता है, धरती नववधू के समान पीली साड़ी पहन कर अपने यौवन में इठला रही हो-

फूली सरसों ने दिया रंग, मधु लेकर आ पहुंचा अनंग
वधू वसुधा पुलकित अंग-अंग! (सुभद्राकुमारी चौहान)

तो मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों में-

फूटा यौवन फाड़ प्रकृति की पीली-पीली चोली! (*साकेत*)

प्रकृति में वृक्ष-लताओं का मिलन-दृश्य उपस्थित हो जाता है। नवयौवना लताएं अपने प्रियतम वृक्षों से स्वयंमेव लिपट जाती हैं और मंद पवन से हिलते पल्लव रूपी मधुर अधरों से प्रेमालाप करने लगती हैं-

पर्याप्त-पुष्प-स्तवक-स्तनाभ्यः स्फुरत्प्रवालोष्ठमनोहराभ्यः।
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखाभुजबंधनानि।।

कुमारसंभव (कालिदास)

महाप्राण निराला के अनुसार गुंजारते भ्रमर और 'कहू-कहू' करती कोयल मानो उच्च स्वर में इनके मोहक प्रणय-व्यापार का अनुमादेन करने लगते हैं-

किसलय वसना नव वयलतिका, मिली मधुर प्रिय-उर तरुपतिका
मधुप वृंद वंदी पिक स्वर नभ सरसाया! सखि बसंत आया।।

महादेवी वर्मा भी मादक बसंत रजनी को आमंत्रण देने लगती हैं, जो तारों को अपनी वेणी में गूंथकर चंद्रमा को सिर का आभूषण (शीशफूल) बनाकर और धवल चंद्रिका का घूंघट डाले अपनी बांकी चितवन से ओस बिंदुओं के मोती बरसाती हुई क्षितिज से धीरे-धीरे धरा पर उतरती है-

धीरे-धीरे उतर क्षितिज से आ बसंत रजनी!
तारकमय नव वेणीबंधन, शीश फूल शशि का कर नूतन, रश्मिवलय सित घन अवगुंठन,
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे चितवन से अपनी!
पुलकती आ बसंत रजनी!!

बसंत के संदर्भ में कवियों ने अपनी मादक गंध से कोकिल को मद-विह्वल कर सुरीली तान छेड़ने को विवश कर देने वाली आम्रमंजरियों की महिमा गाई है, रक्त पुष्पों से लदे पलाश, अशोक और कर्णिकार ने उनकी दृष्टि को लुब्ध और उनके मन को मुग्ध किया है। किंतु छूट गया है वन्य वृक्ष मधूक (महुआ), जो सतपुड़ा के वनवासियों की संपत्ति है। इसके फूल महुआ कहलाते हैं, ये मधुररस से लबालब भरे होते हैं। इनसे मदिरा बनाई जाती है और वनवासियों के भोजन की आपूर्ति होती है। इनकी मदिर गंध सारे वन प्रदेश को मादकता से भर देती है। चैत्र के प्रभातों में मधूक पुष्प प्रचुर मात्रा में झरझर कर पेड़ों के नीचे की भूमि को ढक देते हैं। सूर्योदय होने पर वनवासी महिलाएं और बच्चे इन हल्के पीले फूलों को बीनकर टोकरियों में भर कर घर ले आते हैं। महुओं के फूलते ही सतपुड़ा के प्रकृतिजीवी वनवासियों का सहज उल्लास समूह नृत्यों और समूह गीतों में फूट पड़ता है। कविवर भवानीप्रसाद मिश्र ने इसी अनकहे पृष्ठ को खोला है-*इन वनों के खूब भीतर, चार मुर्गे चार तीतर*

पालकर निश्चिंत बैठे, विजन वन के मध्य पैठे, झोपड़ी पर फूस डाले, गोंड़ तगड़े और काले जबकि होली पास आती, सरसराती घासगाती और महुए से लपकती मत्त करती वास आती!

गूंज उठते ढोल इनके, गीत इनके गोल इनके!
सतपुड़ा के घने जंगल! ऊंघते अनमने जंगल!!

अपने सीमित किंवा नगण्य संसाधनों में जीवन का भरपूर रस लेने वाले इन वनवासियों की तुलना में समग्र सुख-सुविधाओं के बीच रहकर भी कमियों का रोना रोते रहने वाले सभ्य शहरी मानव कितने दयनीय हैं!

अपने परिवार के पेट की आग बुझाने के लिए दिन-रात काम में खटते धूमिल के 'मोचीराम' को भले ही वासंती प्रकृति में अपने व्यवसाय की प्रतिच्छाया दीख पड़ती हो किंतु बसंत उसके हृदय के अज्ञात कोने को गुदगुदाए बगैर नहीं रहता और अनजाने में ही बसंत की सहज मादकता उसके क्रिया-कलापों को प्रभावित कर जाती है-

अब आप बसंत को ही लो-यह दिन को तांत की तरह तानता है
पेड़ों पर लाल-लाल पत्तों के हज़ारों सुखतल्ले
धूप में सीझने के लिए लटकाता है
सच कहता हूं, उस समय रांपी की मूठ को हाथ में
संभालना मुश्किल हो जाता है।

मन किसी झुंझलाए हुए बच्चे-सा काम पर आने से बार-बार इनकार करता है-कविता प्रकृति के ध्वंस पर विकसित हुई है। आधुनिक नगर सभ्यता जब प्रकृति ही नहीं तो उसे उल्लास और अनुराग से आपूरित करने वाला बसंत नगरों के परिवेश में कैसे मिलेगा? बसंत के आने और जाने का आभास शहरी व्यक्ति को कैसे हो पाएगा? रामविलास शर्मा के शब्दों में-

विरान हो चुके हैं सब बग़ीचे और ज़िबह कर डाले गए हैं सारे के सारे दरख़्त!

विकास के नाम पर-उग आया है शहर में सीमेंट का बियावान जंगल अमलतास, आम और पलाश की तो बात ही क्या, दिखाई नहीं देतीं दूर-दूर तक सरसों की झूमती कतारें तक!!

भला बताओ अब कैसे सोचे-समझें, बेचारे लोग कि कब आकर गुज़र गया इस शहर से कमबख़्त बसंत!

आज अपने दैनंदिन जीवन की जटिल समस्याओं में बुरी तरह उलझे आम आदमी को प्रकृति में होने वाले इन आकर्षक ऋतुपरिवर्तनों पर दृष्टि डालने का अवकाश ही कहां है? लगातार बढ़ती हुई जनसंख्या और उसके लिए फैलते हुए बस्तियों के सैलाब और कारख़ानों के विकराल जाल प्रकृति को लीलते जा रहे हैं! बेचारे बसंत को अब पैर टिकाने के लिए जगह की तंगी हो रही है! वह लंगड़ाते हुए आता है और आहें भरते हुए चला जाता है! किंतु, तथाकथित सभ्य मानव ने बड़ी जल्दी अपनी ग़लती का एहसास कर लिया है और प्रकृति के पर्यावरण को संतुलित करने के लिए वृक्षारोपण में संलग्न हो गया है। अब वह दिन दूर नहीं जब धरती फिर वृक्ष-लताओं से हरी-भरी हो जाएगी और ऋतुराज पूर्ववत् राजसी ठाठ-बाट के साथ पदार्पण करेगा। ❑

संपर्क : महाराज बाग, भैरवगंज, सिवनी-480661 (म.प्र.)

मेरे लेखन के प्रति लोगों का विश्वास बढ़ने लगा

__नासिरा शर्मा__ जीवन के प्रति जागरूक एक साहित्यकार जिनका लेखन फलक अत्यंत विस्तृत है। अंतर्राष्ट्रीय मुद्दों के साथ ही भारतीय जीवन का भी चित्रण करने वाली नासिरा जी के रिपोर्ताज बेहद चर्चित रहे। लिखने-सोचने में व्यापकता को समेटे यह लेखिका आज भी साहित्य के विशिष्ट सोपान पर खड़ी हैं। **प्रेम कुमार** *द्वारा लिखी गई पुस्तक* ज़ने अजीब *से उद्धृत साक्षात्कार के कुछ अंश इस चर्चित लेखिका से रू-ब-रू होने का मौक़ा देते हैं।*

आप इतनी विधाओं में लिखती रही हैं, उसके पीछे क्या....

'जो वक़्ती गुस्सा होता है न, वो तो लेख में निकलता है। जो मुद्दे होते हैं, वे लेख में–जैसे आप प्यासे आए, गटर-गटर जल्दी से पानी पी लें। लेकिन जब आप फ़ालसे का शर्बत पीते हैं तो वो मज़ा है कहानी लिखना। और मुझे एक दुनिया बसानी होती है तो मैं उपन्यास लिखती हूं। पहले जगह-शहर चुनती हूं, फिर एक आर्किटेक्ट की तरह नक्शा बनाती हूं। फिर उसमें मुहल्ले-दर-मुहल्ले घूमती हुई, किरदारों को चुनती हूं और उनके साथ रहने लगती हूं। मेरे मायके में जो बड़े दर्दनाक हादसे हुए, जिसका पूरा सिलसिला 94 से पूरी आख़िरी सदी तक चला, उसका नतीजा ये निकला कि मैंने कहानियां लिखीं, अनुवाद किए, किंतु 1992 के बाद कोई उपन्यास नहीं लिखा। मेरा उपन्यास *अक्षयवट* ठीक बारह साल बाद 2003 में आता है। और मेरी इसी ग़ैरहाज़िरी की वजह से...' कुछ देर को मौन आ जमा। ठहाके के साथ हंसी तो मौन पिघला-बहा–'जी, इस ग़ैरहाज़िरी से फ़ायदा उठाते हुए सदी के अंत तक के दशक को उपन्यास का दशक कह दिया गया था अब इन ख़ानों और कोटेशंस के लिए क्या कहा जाए? अगर ये सब मज़ाकिया बातें न हों तो साहित्य के चुटकुले न बनें और फिर जीने का मज़ा न आए। ये चीज़ें बड़ी बेकार की लगती हैं, पर बड़ी अहम होती हैं, क्योंकि अपने वक्त में ख़ुद ही झूठी साबित हो जाती हैं।'

नासिरा अली से नासिरा शर्मा बनने के पीछे की स्थितियां-राज़?

'मेरे मन में अरेंज्ड से एक हेट-सी पैदा हो गई थी। मुझे लगता था कि दहेज दो तब भी शिकायत। बड़ी बहनों की शादी देखी। सामान्य संबंध नहीं दिखते थे मुझे उस उम्र में। आसपास के माहौल को देखकर वो जो दिमाग़ में चलता रहता था कि यह सही, वह ग़लत...। तो वो जो रिवोल्ट था, उसके कारण हुआ यह सब। और यह ऑफर तो डा. शर्मा की तरफ से था। वो बहुत मुतास्सिर हुए थे हमसे। और मेरा और कहीं इन्वॉल्वमेंट भी नहीं था. .. और शादी होनी ही थी मेरी। तो जब डॉक्टर शर्मा ने यह प्रस्ताव किया तो मुझे लगा कि शादी कर लेनी चाहिए। आप पूछते हैं कि दोनों में से किसकी मोहब्बत अधिक अहम... मैं कहूंगी कि डा. शर्मा कभी ये मुहलत ही नहीं देते कि मैं नाप पाऊं कि मैं कितनी करती हूं या वो कितनी करते हैं। वो इतनी बौछार करते हैं कि बस...।' चेहरे पर खास-सी एक चमक दिख रही है, आंखों में कुछ-कुछ गर्व-सा–'और ऐसा कोई अवसर भी नहीं आया कि मैं अपना इम्तहान दे सकूं। वही इम्तहान में अव्वल आते रहे।... मेरी मां ने जब अपनी बदनामी होने की बात कहकर इनसे पूछा कि मुसलमान होओगे तुम? तो इन्होंने कहा कि जैसा आप चाहें। मैं जब घर आई तो इस बात से अपनी अम्मा से बहुत ख़फ़ा हुई थी। और मैंने उनसे कहा था–आज वो राज़ी हो रहे हैं आपका लिहाज़ करके और कल वो मुझे कहेंगे कि तुम हिंदू हो जाओ। तब अम्मा को अपने सवाल पर बड़ा अफसोस हुआ था। उन्होंने माना था कि उन्हें यह सवाल नहीं पूछना था। और आप देखिए कि हम दोनों की अपनी-अपनी आइडेंटिटी बनी रही–गो कि दोनों धार्मिक नहीं हैं। हमारी गली से गुज़रती हुई एक नौकरानी किसी को बता रही थी एक दिन–'देखो इस घर में हिंदू और मुसलमान साथ रहते हैं...।'

क्या न होता जो आप लेखक न होतीं?

'एक बेचैनी, जो मुझे आज से पांच साल पहले तक बेचैन करती रही है। मैं चीज़ों को देखकर बेचैन होती रही हूं कि ये ऐसे नहीं होना चाहिए। अब एक दूसरी समझ डेवलप हो गई है–एक और अनुभव का झरोखा खुल गया है–जो बताता है कि हिंदू दर्शन का वह जो विश्वास है नियतिवाद–वो पलायन या हथियार डालना नहीं है। वो आपका मज़ाक उड़ाता है कि तुम कुछ भी कर लो, मगर तुम्हें यहीं जीना है। फ़ैसले कोई और ले रहा है...' आवाज़ धीमी और मंद हो गई है। कहीं और देखती-सी रुक-रुककर कह रही हैं–'कहीं से कोई और सिचुएशन बन रही है। पता है, ऐसा क्यों होता है? इसलिए कि इस संसार में अकेले आप नहीं जी रहे। आप सबके साथ जी रहे हैं। जो, हो सकता है यह फ़ेज़ आगे बदल-गुज़र जाए–पर हां, फिलहाल मुझे ऐसा लगता है। मैं किस्मत की बात नहीं कर रही ...पर... आपके साथ जो होने वाला है, उसे आप बदल नहीं पाते। आप मनचाहे के होने के लिए कोशिश करते हैं...।

देखिए, अगर ये ईरान वाला मेरा दरीचा न खुलता तो यक़ीन कीजिए कि या तो मैं प्रेम कहानियां लिख रही होती या घुमा-घुमाकर आपबीती लिख रही होती या कुछ भी न कर रही होती या बच्चों के लिए कुछ लिख-लिखा लेती। मेरी लंदन की जो पहली यात्रा हुई, उसने मुझे लेखक तो नहीं बनाया, पर दुनिया दिखाई। भांति-भांति के लोग, भांति-भांति की प्रॉब्लम्स। और ठीक उसके दस साल बाद मैं ईरान जाती हूं। उससे पहले मैं बच्चों के लिए कुछ और दो-तीन कहानियां लिख चुकी थी। पर वो जो विज़न मुझे मिलना था, वो उस यात्रा ने दिया।

आपके लेखन में स्त्री-पुरुष संबंधों का एक अलग-सा व्याकरण और समीकरण दिखता है। अपनी ख़ुद की ज़िंदगी में अपने निकट संबंधों को आप किस तरह जीती रही हैं?

ध्यान से सुना। माथे पर थोड़ा-सा बल पड़ा। आंखों-आंखों में कुछ सोचती-देखती-सी धीमे-धीमे बोलना शुरू करती हैं-'मुझे किसी तरह का डिस्टर्बेंस नहीं चाहिए। अगर लिखना होता है-मैं लिखने में डूबी हूं तो मैं बहुत खुदगर्ज़ हो जाती हूं। और अगर मैं छिटपुट लेखन कर रही हूं तो पूरे घर की ख़बर रखती हूं। चूंकि संबंध मेरे लिए बहुत इंपोर्टेंट हैं और यदि बार-बार मिलना नहीं हो पाता है तो मैं फोन से एक सिलसिला बनाए रखती हूं। उससे एक तरह से रिश्ता ताज़ा हो जाता है। यह कहने में मैं बहुत गुरूर महसूस कर रही हूं कि मेरी मुहब्बत और खुलूस के रिश्ते मुझसे छूटते नहीं हैं। लेकिन जो मतलब से या प्रोफेशनल बनते हैं, उनके टूटने का अफ़सोस तो होता है, पर यदि बात समझ में आ जाए तो उससे उबर भी जाती हूं।

इस अच्छाई और प्यार को तय कौन करेगा?

'यह दोनों तरफ से तय होगा। एकतरफा मुहब्बत की मैं कायल नहीं। दोनों तरफ की शिद्दत चाहती हूं मैं। एकतरफा रिश्ता कायम करना है तो नेचर से पैदा कर लीजिए, चांद देखते रहिए, हवा खाते रहिए।

आपके ऐसे मूल्यवान रिश्ते जिन पर आपको नाज़ है?

अपने दोस्तों पर बहुत नाज़ है। शौहर, मां, भाई, बेटी के रिश्ते पर नाज़ है मुझे। दोस्तों-जिनमें औरतों से ज्यादा मर्द शामिल हैं-वे मर्द इतने इंसान हैं और इतने खूबसूरत इंसान हैं-उन्होंने मेरी मेंटल ग्रोथ में, खुद मर्दों को समझने में, एक लेखक की तरह मेरे विकास में बहुत साथ दिया है। नाम लेने से कुछ बनेगा नहीं, पर अभी तक मेरे किसी औरत या मर्द दोस्त ने ग़लत मशविरा नहीं दिया। यह अलग बात है कि उनका मशविरा मानूं या न मानूं। इसलिए जब मैं मर्द करेक्टर उठाती हूं तो आंख बंद कर उन्हें काला-सफेद पेंट नहीं कर पाती हूं।

तो अब आप मर्दों को समझती हैं, समझ गई हैं?

नज़र जमाकर मेरी ओर देखा। जैसे मेरे पूछने के पीछे का भाव और इरादा जानना चाहती थी, जी...इसी सबके चलते...जैसे हिंदुस्तान में मर्द वर्चस्व है, वैसे ही मिडिल ईस्ट में औरतों के कानून बड़े मज़बूत हैं। वहां मर्द दहेज देता है। ज़रा भी कुछ गड़बड़ हुई तो इस्लामिक कोर्ट बड़ी सज़ाएं देता है।

स्त्री-पुरुष संबंधों की दृष्टि से आज की पीढ़ी में आए अंतर को आप किस तरह देखती हैं?

'इस सिलसिले से अगर मैं देखती हूं तो पहले रिश्तों में मुरव्वत थी, लिहाज़ था और पूरा परिवार एक लय पर चलता था। मैं यह नहीं कहूंगी कि वो बहुत इंपोर्टेंट लय थी, जो विलुप्त हो गई। उसमें विरह और विलाप भी खूब था। शोषण और जकड़न भी खूब थी। इसीलिए संयुक्त परिवार खत्म हुआ। लेकिन उसे काट दिया, अपने से अलग कर दिया-इसी से गड़बड़ हुई। अब न किसी का लिहाज़, न कोई किसी का कहना मानता है। इसकी सबसे ज्यादा कीमत नई पीढ़ी को अदा करनी पड़ रही है। लड़का-लड़की समझौता नहीं करना चाहते। उन्हें वो चाहिए, जो वो चाहते हैं। मानवाधिकार का नया अर्थ उनकी समझ में आया। अपने अधिकार के लिए वे लड़ना तो सीख गए हैं, मगर वही अधिकार दूसरों को देना नहीं चाहते हैं। लंदन में एक वकील ने मुझसे कहा था कि यहां पर घर और बच्चे मर्दों से जुड़े हैं। मर्द घर बनाए रखना चाहते हैं, औरतें नहीं। मैंने इसीलिए औरतों के मुकदमे लेने छोड़ दिए हैं। औरतों ने लड़कर यह कानून पास करा लिया कि बच्चा रहेगा तो मां के पास। मां शराबी है या खराब औरत है, ये बड़ा प्रश्न नहीं है। प्रश्न यह है कि जो बच्चा उसके पास छोड़ा गया है, उसकी देखभाल वो पूरी तरह कर रही है या नहीं? यह मसला थोड़ा सोचने-समझने का है। फिर मॉरल का क्या होगा? किसी पर हाथ उठाना हमारी सोसायटी में प्यार का इजहार भी माना जाता है और जुल्म का भी-जब कोई मार-मारकर भुर्ता बना दे। चाहे वो अरब कंट्री हो या यूरोपियन-वहां पर हाथ उठाना अगर घरेलू लड़ाई तक महदूद है तो ठीक है, लेकिन लंदन में यह घरेलू लड़ाई में भी संभव नहीं। समझ नहीं आता कि रिश्ते कितने कंट्रोल होने चाहिए। एक मुहब्बत की लड़ाई होती है-दोनों एक-दूसरे की चीज़ें अलग फेंककर ऐसे मिलते हैं कि मुहब्बत और बढ़ती है। मियां-बीवी की एक लड़ाई ऐसी होती है कि एक-दूसरे का सिर फोड़ दें, हड्डी तोड़ दें, पर अदालत में दोनों का गुनाह एक। तो मेरा सवाल यह है कि जो कानून हम बनाते हैं वह कितनों की मदद करता है, कितनों को अभिशाप बन जाता है।

आपको अपने स्त्री होने पर....?

सवाल पूरा होने से पहले ही सुनाई दिया-'मैं मुतमईन हूं...जी हां, दोबारा भी मैं औरत और लेखक होना चाहती हूं....।'

क्या ख़ास लगता है आपको औरत होने में?

'मुझे लगता है, औरत होने पर ज़िंदगी आपको बड़ी गहराई से छूती है....।'

सबको तो नहीं...?

'हां, पर...सब औरत बनना नहीं चाहतीं...।'

अपने औरत होने पर क्या दुःख भी हुआ कभी?

'दुःख...हां, अपने औरत होने की बेबसी पर बड़ा दुःख हुआ तब जब जे.एन.यू. में मेरे साथ बहुत ज्यादा ज्यादती हुई।...वहां अपने को विवश महसूस करती थी। लगता था, काश मैं एक लंबी-चौड़ी मर्द होती! बस एक-बार! तब हां, स्टूडेंट थी-और खासी दुबली-पतली भी थी...।

मेरा ध्यान नासिरा जी की खाली कलाइयों की तरफ गया था-बाईं कलाई में सिर्फ घड़ी-चूड़ियां नहीं-कैसा भी कोई साज-सिंगार नहीं। मैंने नासिरा जी से उनके आम स्त्रियों से भिन्न इस तरह रहने-जीने के ढंग का कारण जानने के इरादे से ही उनकी रुचियों, पसंदों और जीने के अंदाजों से जुड़े कुछ प्रश्न किए थे। उनका स्वर कुछ धीमा था और गति अपेक्षाकृत मंद-'बिहार में मुझे जब भाषा परिषद का 'महादेवी वर्मा पुरस्कार' मिला था, तो परिषद में बोलते हुए मैंने कहा था-मैं बचपन से ही बूढ़ी थी। मैंने अपने घर की शान-शौकत जुबानी तो सुनी ही-जो सुनी, सुनती आ रही हूं, वो अपनी जगह है, जो मैंने बचपन में देखी, वो अपनी जगह। मैंने घर को लुटते और ढहते भी देखा और यहीं से दुनियावी चीज़ों के लिए मेरे दिल में बहुत नफ़रत हुई। अगर मुझसे कहा जाए कि तुम रिश्ते और दुनियावी सुख में से क्या लेना पसंद करोगी-तो मैं रिश्ता लेना पसंद करूंगी। और मैं आज आपको एक बात बताना चाहती हूं कि मुझे नगों का बड़ा शौक है, पर बैंकॉक या जापान जाने पर जब भी मैं किसी दुकान पर गई, राम के बहुत कहने पर भी पता नहीं क्यों वो चीज़ें ख़रीद नहीं पाई।" मुझे हमेशा यह लगता है कि घर ऐसा होना चाहिए कि उसमें आप नज़र आएं, घर की क़ीमती चीज़ें नहीं और आपकी सजावट ऐसी हो कि उसमें आपके अंदर की आत्मा-इंसान झांके न कि वो चीज़ें जो आपने बाज़ार से खरीदी हैं या पहन रखी हैं। मुझे अच्छी तरह याद है कि एक कम्युनिस्ट राइटर ने एक बात कही थी कि नासिरा जी, जितना रिलेक्स होकर मैं आपसे बात कर सकता हूं, उतना अन्य लेखिकाओं से नहीं। वहां इतना कुछ चमक-दमक वाला होता है कि नज़र टिके भी तो आख़िर कहां।

मोबाइल कान की ओर चला है। बातें बता रही है कि घर के अंदर से कुछ पूछा जा रहा है। दो-तीन वाक्यों में बात ख़त्म हो गई है। मेरी ओर ऐसे देखा है जैसे पूछ रही हों कि हां, तो क्या बात चल रही थी? पर अगले

ही पल उन्हें जैसे सब याद हो आया है–''मैं मानती हूं कि मेरे पास दुनियावी अंदाज़ में कुछ भी नहीं है कि मैं दौलतमंद लोगों में गिनी जाऊं लेकिन जिस तरह की ज़िंदगी मैं बचपन से जीना चाहती थी, उस तरह की ज़िंदगी मैं जी रही हूं। यही मेरी दौलत है, जो अक्सर सत्ताधारियों और करोड़पतियों को भी नसीब नहीं होती। बतौर मिसाल आपको बताऊं–*कुइयांजान* पर मिले इनाम को लेने मैं लंदन गई। जहां ठहराई गई वहां रहते मुझे लगातार अपनी पुरानी ज़िंदगी याद आ रही थी। एडेनबरा में मैं तीन साल रही। दोनों बच्चे वहीं हुए थे। लंदन जाकर लोग सड़कों पर घूमना चाहते हैं, लेकिन मैं यही मौक़ा तलाशती थी कि उस घर में अकेले रहने का मुझे मौक़ा मिले। जहां ठहरी थी वह घर था भी ख़ूबसूरत और मियां-बीवी दोनों भी पुरख़ुलूस थे। शायद यह बात कोई नहीं समझ सकता कि ज़हनी तौर पर जो अय्याशी–जो सुख–उस घर में मैंने सोफ़े पर बैठकर हरे लॉन को देखते हुए, खिड़की से बादलों को घुमड़ता-बरसता देखकर पाया वो सुख मुझे विंडो शॉपिंग से न मिलता। वह जो मेरे अंदर की यात्रा थी–उस पूरे माहौल को जीने-समझने और देखने की–वे तो लाखों रुपये देकर भी मैं नहीं पा सकती थी। जब मैं लंदन के उस सबको याद करती हूं तो मुझे इमारतों और लंदन के अलावा उस घर का बजता अकेलापन बहुत याद आता है। जी, वह मेरी क्रिएटिविटी के लिए बहुत ज़रूरी है। आंखें जब भी बंद करूं तो...।' और उनकी आंखें सचमुच बंद हैं, गर्दन सोफ़े पर टिकी है, बुदबुदाती-सी जैसे ख़ुद को बता रही हैं–'सड़क के किनारे लैंप पोस्ट, लटकती लोहे की टोकरियां जिनमें कई तरह के फूलों की लतरें लटकती रहती थीं...। ये मेरी आदत का हिस्सा है या जो भी कहें...।'

आपके कुछ शौक...?

'शौक, हां, शौक।' मेरे शब्द सुनकर आंखें खोलीं। क्षण-भर मेरी ओर देखा। और झटपट से ऐसे बोलना शुरू किया, जैसे कहीं और से आया व्यक्ति दूसरे का पूरा कथन सुने बिना ही वहां अपने उपस्थित रहने को दर्शाने के लिए सुन लिए गए किसी एक ही शब्द का सहारा लेकर बोलने-बताने लगे–''शौक–बचपन में मुझे घर सजाने का बड़ा शौक था। दूसरा–घर-गृहस्थी से मेरी दिलचस्पी थी। दो बहनों की शादी के बाद, मेरी शादी से पहले तक–घर की ज़िम्मेदारी मेरे ज़िम्मे थी। एक बात और–हमारे यहां मेहमानों की ख़ातिर नौकर नहीं करते थे, घर के लोग करते थे। मेरी वह आदत यहां भी है।' 'एक और आदत हमारे घर की थी कि अपने घर के बुज़ुर्ग को हम कम उठने देते थे।''जी, ये आदत यहां भी है। खेलने की मैं बहुत शौकीन नहीं रही। क्रिएटिविटी–किसी भी रूप में–मेरे साथ बचपन से थी। चाहे वह सिलाई, कुकिंग के रूप में हो...। सिलाई और कुकिंग तो मैं अब भी करती हूं। पर मेरे मूड पर है–ड्यूटी नहीं है। बच्चों से मुझे बचपन से ही बहुत प्यार रहा है। जे.एन.यू. कैंपस में हमारी पड़ोसी थी–तिलोत्तमा दासवानी। जब वो क्लास में जाती तो बच्चा हमारे पास छोड़ जाती। हेल्पर थी, पर उसके पास नहीं छोड़ना चाहती थी। बच्चों के साथ शेयर करना एक बड़ा अजीब दुनिया है–बहुत बड़ा सुख है...।'

'बहुत बड़ा सुख...? 'सुख...सबसे बड़ी ख़ुशी जो मुझे है–इस घर में, जिसमें मैं बैठी हूं–जो घर डा. रामचंद्र शर्मा का है–आधा मेरा है–उसमें मुझे जीने की, सांस लेने की–और कहने की आज़ादी है। ये एक इतनी बड़ी दौलत है–जो मर्दों को भी बहुत कम नसीब होती है...।' मेरे शौहर मुझे तोहफ़े देते हैं। आज तक मैंने अपने लिए कुछ ख़रीदा ही नहीं। हमेशा ये ही ख़रीदकर लाते रहे हैं। मेकअप, साड़ियां और ज़ेवर तो सभी मर्द देते हैं, पर जो ख़ूबसूरत तोहफ़ा डा. शर्मा साल में मुझे एक बार देते हैं, वह है–नीले रंग का पांच नंबर का पायलट पेन, पैड, कार्ड, काग़ज़, लिफ़ाफ़े टिकिट...। लो–यह तुम्हारी ज़िंदगी है...। हां, ये इस बात को अच्छी तरह समझते हैं। कहीं आने-जाने पर कोई रुकावट नहीं। तो आप सोचिए कि मुझे अपने आसपास, अपनी ज़िंदगी या रिश्तों से क्या शिकवा होगा–कि यह नहीं मिला, वह नहीं मिला। मेरे सोच के केंद्र में यह सब दुनियावी चीज़ों का मिलना, न मिलना नहीं होता।''

सबसे ज़्यादा लगाव-प्यार किसके साथ जिया है आपने?

'मुझे लगता है कि ...इन टोटल मैं कहूं...कोई एक अलग नहीं कर पाऊंगी! जो मेरे क़रीब हैं, उनमें से अलग नहीं कर सकती। मोहब्बत नापी नहीं जा सकती। उसमें उतनी डेप्थ होगी, जितना इंवूरेशन होगा। और मैं आपको सच बताऊं–बचपन का घर, भाई-बहनों का साथ, जवान मां-बाप की छवि कभी नहीं मिलती। वही है, जो आपका बचपन है। बतौर मिसाल बड़ी बहन की बात करूं–जब वह 1999 में मौत से पहले कोमा में चली गई थीं, तो उस समय वे शौहर या बच्चों को याद नहीं कर रही थीं–वह अपनी मां, अपने भाई-बहनों को याद कर रही थीं। ये बहुत बड़ा सच है, जो उनके मुंह से टूटा-फूटा निकल रहा था। इस दुनिया के कलचर में जो बचता है, वह यही है–बचपन और बचपन का घर। वह स्वाद जो आपने खाया था, आप ढूंढते रहते हैं, फिर कहीं नहीं मिलता। 'सब फ़ानी है...।'

आजकल लेखक, प्रकाशक और संपादकों के बीच के कई विवादों की चर्चा है...?

चुप बैठी कुछ सोचती-सी रहीं। फिर बोलना शुरू हुआ–'मेरा न कभी पेमेंट रुका, न प्रकाशन में दिक़्क़त आई, पर एक बात ज़रूर कह सकती हूं कि...।' 'हां, तो हम कहां थे...हां, यह कह सकती हूं कि किताबों की रॉयल्टी से मेरा जो यात्रा का शौक है, वह पूरा नहीं हो सकता, न यह रॉयल्टी मुझे घर का अन्नदाता बना सकती है। इससे अच्छा पेमेंट पत्रकारिता में है। एक नॉवेल की साल-भर की रॉयल्टी और चार लेखों का पेमेंट बराबर है। और कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक उपन्यास के लेखन में जो पैसा, एनर्जी और समय आप डालते हैं, उसकी वापसी भी नहीं होती। यह शायद भारतीय लेखक का भाग्य है।...हां, नहीं...इसी तरह की परेशानी शायद सीरिया में थी. ..पर वहां एक बात थी कि जो लेखक संघ का सदस्य होता है, उसकी किताबें लेखक संघ आसानी से छापता है। ईरान का तरीक़ा मुझे ज़्यादा पसंद आया–वह ज्यादा ईमानदाराना है। वहां एक किताब पर जो लागत आती है, उसे लेखक और प्रकाशक आधा-आधा कर लेते हैं–और जो कुछ बिक्री होती है, उसका भी आधा-आधा हो जाता है।

क्या कभी आत्मकथा लिखने का भी मन हुआ है?

'आत्मकथा–मैं लिख नहीं सकती–क्योंकि उसमें इतने कांटे होते हैं कि...कांटे से मेरा मतलब ग़लत मायने में नहीं। ये क्या कि मैं चंद लोगों का ज़िक्र कर दूं और आगे बढ़ जाऊं। इतनी सीधी नहीं है ज़िंदगी...टुकड़ों-टुकड़ों में झलकियां मिलेंगी ज़िंदगी की। आत्मकथा में यदि सिर्फ़ आप अपनी बात कहते रहें...यह भी तो क्या ठीक है। कुछ लोगों की ज़िंदगी में बहुत उतार-चढ़ाव, उखाड़-पछाड़, अनुभव-अनुभूतियां नहीं होतीं। मेरी ज़िंदगी में बहुत सारी चीज़ें हैं–तो उसमें बहुत गोशे हैं फंसना भी नहीं चाहती।

आप में कुछ ख़राबियां भी तो होंगी?

''क्यों नहीं–बहुत ज़्यादा ख़राबियां हैं। एक पत्रकार ने एक अच्छी बात कही थी कि आप छपी हुई तो हर जगह दिखती हैं, पर जब हम आपको देखना या कुछ देना चाहते हैं तो आप वहां नहीं दिखतीं। एक जर्नलिस्ट ने देहरादून में पूछा था कि आपसे ज्यादा आपकी कहानियां क्यों चर्चित हैं।.

..मुझे लगता है कि इस सबके लिए या तो आप लॉबीइंग कीजिए–उसके लिए एनर्जी की, कला की ज़रूरत होती है–या फिर आप लिखें। और मुझे महसूस होता है कि दुनिया घूमने, नई तरह की चीज़ें लिखने में इतनी मगन रहती हूं. ..कि उन जगहों पर नहीं जा पाती, जहां जाना चाहिए। जो चीज़ मिल जाती है, उसे मैं एंज्वाय करती हूं।...हां, ख़राबियां...ग़लत बातों पर गुस्सा बहुत आता है। उस गुस्से से ख़ास बात...ये कि कोई बदतमीज़ी करे तो ...बहुत गुस्से में...फ़ोन बंद कर दूंगी। या कहूंगी कि चाय पीजिए...तशरीफ़ ले जाइए। नहीं, नहीं–रोना, कुढ़ना, गुस्से में बीमार पड़ जाना, गला रुंध जाना, जवाब न दे पाना, अकेले में रोना–ये सब बहुत पहले की चीज़ें हैं। उस दौर से बहुत आगे निकलकर आ गए हैं।"

ऐसा कोई मलाल...?

'मेरी ज़िंदगी में दुख और सुख इतनी तेज़ी से आते हैं कि मैं एक साथ रो-हंस सकती हूं। मैं अपनी ज़िंदगी का यह हिस्सा लिखना चाहती हूं। लिखना शुरू भी किया था–कभी जन्नत, कभी दोज़ख़।...मैं खुद श्योर नहीं हूं कि खुशनसीब कहूं या बदनसीब या कामयाब कहूं या नाकामयाब–जो जिस नज़र से देखता है वह अपनी तरह से तय कर ले।'

अब डा. शर्मा ने कमरे में प्रवेश किया है। नासिरा शर्मा ने हम दोनों से एक-दूसरे के बारे में दो-दो वाक्य कहे हैं। डा. शर्मा ने मुझसे कुछ कहना चाहा है। नासिरा जी बता रही हैं–'शुगर की वजह से आवाज़ ग़ायब हो गई थी। आप से बात करने, आपको अपनी पेंटिंग्स दिखाने को बुलाने आए हैं।' शगुफ़्ता ने फिर झांका था। उनके उस झांकने ने मुझे हड़बड़ी में ला दिया था।

कोई गिल्ट जो इस समय याद आ रही हो...?

'कुछ-कुछ गिल्ट तो रहते हैं। बहुत अरसे तक एक गिल्ट रहा–फिर उससे मुक्ति हासिल हुई।...एक बार मैं आम ख़रीद रही थी। एक ग़रीब ठेले के पास आकर खड़ा हो गया। वह बार-बार एक आम को उठा-रख रहा था। मैं अपने अंदर का भय दूर नहीं कर पा रही थी। यही कि कहीं आम देने पर ये फटकार न दे, इनकार न कर दे या आम देने पर ये आम वाला क्या सोचेगा। और मैं उसे एक किलो आम न दिला सकी। इस तरह बहुत सालों तक मैं तड़पती रही हूं। अक्सर परेशान होती हूं कि जवाब दे दिया होता तो दूसरा मुतमईन हो जाता–मैं वह बात पीकर क्यों चली आई। इस तरह की अनेक छोटी-छोटी बातों के गिल्ट से दुखी करती हूं खुद को। ...जी, पछतावे भी बहुत हैं मेरी ज़िंदगी में। अपने ग़लत फ़ैसलों के भी पछतावे। एक बेवकूफ़ी–बहुत बड़ी बेवकूफ़ी बताऊं?...मेरे यहां नागर साहब–जी, अमृतलाल नागर साहब आते हैं। पूछते हैं कि तुम क्या लिख रही हो? मैं कहती हूं कि मैंने *ठीकरे की मंगनी* अभी ख़त्म की है। वह पढ़ने को ले जाते हैं। उन्हें इतनी पसंद आती है कि वह उसे छपने के लिए राजपाल को दे देते हैं। और मेरी हरकत देखिए, मैंने इरादा किया था कि मैं उसे दीनानाथ जी–जिन्होंने मेरा पहला नॉविल *शाल्मली* छापा था–को दूंगी–सो उसे मैंने राजपाल से मंगवा लिया। दीनानाथ जी उसे छापते हैं–और तीन साल बाद फ़ैसला लेते हैं कि मैं हार्ड बाउंड नहीं छापूंगा...।' वह हंस रही थीं–एक ऐसी हंसी जो किसी दूसरे के दोष या हास्यास्पद कृत्य के कारण पैदा नहीं होती–बल्कि अपनी स्वयं की किसी ग़ल्ती या अबोधता को याद करने के कारण जन्म लेती है–'और आप देखिए, मैं तो किताब लिए चौराहे पर खड़ी हूं। तो ये हुआ कि किताबघर वालों ने उसे छाप दिया।'

वैचारिक स्तर पर आप अपने को कहां खड़ा पाती हैं?

'देखिए, मैं किसी भी वैचारिक, धार्मिक पार्टी या अंजुमन की मेंबर नहीं हूं, क्योंकि मुझे किसी क़िस्म की बंदिश पसंद नहीं। जब आप किसी से जुड़ेंगे तो उसका ध्यान तो रखेंगे न। और एक राइटर को जुड़ना भी नहीं चाहिए. ..क्योंकि क़लम में जब मसलहत और लिहाज़ आ जाता है तो क़लम लड़खड़ा जाती है।

सुना है, आपको पढ़कर भी लगता है कि आप चीज़ों को योजनाबद्ध ढंग से संपादित करती हैं?

"मैं जो बहुत ज़्यादा–अच्छी तरह चीज़ें मैनेज करती हूं। अगर आप मेरे घर में देखिए तो मेज़ पर मेरी चीज़ें बिखरी रहेंगी, मगर मेरी फ़ाइलों में हर काग़ज़ व्यवस्थित रहेगा। मैं इस बात पर हंसती थी कि डा. शर्मा की मेज़ सजी रहती थी, पर कोई काग़ज़ समय पर नहीं मिलता था। आप मुझसे कोई काग़ज़ कहिए, मैं उसे तुरंत निकालकर पेश कर दूंगी। देखिए–एक लेखक जो ज़िंदगी जीता है, वह योजना नहीं बनाता है। लेखक के पास सोच का एक सिलसिला होता है। इसमें कोई शक नहीं कि जो लोग इसे योजना समझते हैं–दरअसल वो मेरी सोच का एक सिलसिला है।

और अब उन्नीस के संडे के बाद 26 अप्रैल, 2009 का संडे। लगभग वही समय। वही कमरा, वही सोफ़ा, वही जगह और वही स्टूल। हम लोगों के कमरे में प्रवेश के साथ ही नासिरा जी खड़ी हुईं–सलवार-सूट-सफेद चुन्नी। बैठते ही पानी लिए वफा हाज़िर–'ग़ौर किया आपने? कितनी सजी-संवरी और बनी-ठनी घूम रही हैं सुबह से। आप इनसे बात करने का वादा कर गए थे न।' अब मुझसे सवाल किया गया है। सवाल सुना, पर जिस ढंग से उन्होंने पूछा, उत्तर देने से पहले मुझे रुककर सोचना पड़ा–'आप लिखने के साथ किसमें चाय से बेहतर रिश्ता बना पाते हैं...? चाय प्याले में, गिलास में या मग में? रिश्ता-फिर रिश्ता–और अब चाय से रिश्ता। बेहतर रिश्ता। उनके इस पूछने ने रिश्तों के प्रति उनकी संवेदनशीलता, लगाव और सम्मान की ओर मेरा फिर से ध्यान खींचा।

'चाय इधर ले आओ! हम बना लेते हैं। मेरे मन में संकोच का एक भाव आया–'लाइए, मैं बनवाऊं चाय!' 'बहुत आराम से हो रहा है सब! आप कुछ न करें!'

चाय पीते-पीते मुस्कराए जा रही हैं। शर्मा जी कितनी हंसी उड़ाते हैं हमारी। कहते हैं कि लोग तुम पर लिख रहे हैं। लेकिन नासिरा; मैं जब पचास पेज लिखूंगा तो सब भेद खुल जाएंगे। उस दिन मुस्करा रहे थे यह सुना-सुनाकर। मैंने कहा–लिखिए न, तो चुप। हां, बेटा क्रिटिक है। हर बात पर मुकाबला। वो अपने लेविल पर है अभी। उन्होंने अभी हमारे रिलेशन को ग्रो नहीं किया है।' अपनी जगह बैठी वे जैसे सारे घर को चला रही हैं–किसी को बुलाना है, कुछ कहना है, उनके प्रश्नों के उत्तर देने हैं–वहीं बैठे-बैठे सब चलता रहेगा चुपचाप। बिना शोर-शराबे के, बिना हाय-तौबा मचाए। न जाने कहां से एक शब्द मुझे याद आने लगा–मैनेजमेंट गुरु। बहुत चला है पिछले दिनों–पर नासिरा जी के संदर्भ में सोचा तो लगा कि यह शब्द इतना चलाया गया है कि घिस-घिसकर इसका मुलम्मा उतर गया है। बहुत हलका कर दिया है इसे। उनके इस पक्ष को रेखांकित करना चाहा तो पहले कुछ विशेषण याद आए–कुशल, निपुण, विशिष्ट और फिर कुछ शब्द–प्रबंधक, प्रशासक, नियोजक, एक साथ इतनी चीज़ों को देखना, सुनना, समझना, एकाग्रता बनाए रखकर सबको सबके अनुकूल निर्देशित करना, प्रेरित करना, उत्तर देना...! मुझे उनके पिछले वर्षों में प्रकाशित मोटे-मोटे तीनों उपन्यासों का ध्यान आया...और बिना नासिरा जी को सुनाए अपने से कह लिया–'इतने ऐसे-ऐसे पात्रों को रचना, पालना, साधना, संभालना, उन्हें एक रूप और दिशा देना, उनके लिए उनका संसार बसाना–बिना ऐसे कौशल, नैपुण्य, वैशिष्ट्य और संवेदनशीलता

के संभव कैसे हो सकता है? सोच तो रहा था कि उनके पात्रों के बारे में कुछ पूछूं–पर पूछ बैठा।

पिछले सालों में इतनी जल्दी-जल्दी आपके तीन बड़े-बड़े उपन्यास?

ध्यान से सुना फिर बोलीं–'एक साथ जल्दी-जल्दी उसकी वजह पता नहीं यह भी तो देखें बारह साल मेरा कोई उपन्यास नहीं आया। चौथा उपन्यास *ज़िंदा मुहावरे* 1992 में आया था। फिर अब *अक्षयवट* 2003 में छपा था–*ज़ीरो रोड*...बहुत पहले से अटका था। *अक्षयवट* की ज़हन में कोई प्लानिंग नहीं थी। *कुइयांजान* अपने-आप आ गया। मैं खुद से वादा करके गई थी कि मिज़ोरम में मैं चुपचाप रहूंगी...कुछ नहीं लिखूंगी। पर एक हफ्ते बाद वहां से ऊब होने लगी। नेचर की ब्यूटी कहां तक देखती। नेचर ने एक क्रिएटिविटी भी जगाई कि लिखो...तो हफ्ते बाद तुरंत कहा कि मुझे काग़ज़-क़लम चाहिए। और ये जो अब आ रही है–*पारिजात*–तो बहुत पुरानी पांडुलिपि है। एक बार तो इसकी पांडुलिपि खो भी गई थी–दुबई-दिल्ली के बीच। जी, फिर दोबारा तैयार किया पांडुलिपि को यादों के सहारे...।'

आपके 'तैयार किया' कहने पर दिमाग़ में आया है यह प्रश्न-आपको क्या लगता है रचना 'होती' है या 'की' जाती है?

'जो चीज़ आने वाली होती है–वो उसी तरह आती है जैसे ज्वालामुखी फटता है। और जो नहीं आने वाली है–उसे पानी की तरह उबालते रहिए–इंटरव्यू देते रहिए–नहीं आनी तो नहीं आएगी। देवेन्द्र इस्सर साहब ने कहा था–'शायद चालीस या पचास साल से मैं एक कहानी लिख रहा हूं। अभी तक नहीं लिख पाया'। और इस्मत आपा ने बड़े ग़ौर और हैरत से उनके चेहरे को देखा था कि क्या बोल रहे हैं ये...।'

आपके किस पात्र ने आपको बहुत-बेहद झिकाया-खिजाया?

आंखें छत की ओर। आसमान पर उड़ते परिंदों को ताकती हुई चुप बैठे-बैठे कुछ देर कुछ सोचा। और फिर...दो-तीन चीज़ें लिखते हुए काफी..हुई...हां, एक 'संगसार' कहानी की आसिया। उसने मुझे खिजाया तो नहीं –लेकिन उसके नोक-पलक दुरुस्त करने में मैंने अपने को बहुत एक्सप्लोर किया। क्या कहूं...मैंने क्या सी कहा?...लेखक भी तो अपने लेखन-सृजन की खोज करता है। ये वो किरदार था... चुनौती–जी, रचनाकार भी अपने को आज़माता है न। और आखिर के ये जो तीन-चार नॉविल आए हैं मेरे–इनको समेट सकने की क्षमता को बहुत आजमाया है। जैसे मैं आपको बताऊं...।' तर्जनी और मध्यमा होंठों को जैसे सहला रही हैं। चुप रहीं थोड़ी देर–*अक्षयवट* लिखने के दौरान एक-दो चीज़ पूछने के लिए मैं इलाहाबाद अक्सर फ़ोन करती थी। उस दौरान फोन का बिल बहुत बढ़ा हुआ आया। डा. शर्मा ने पूछा कि ये एक ही नंबर रिपीटिड बार-बार...कौन है ये? कहां फ़ोन करती हो तुम? वो दो-एक कोतवालियों के नंबर थे। वहां मैं इंस्पेक्टर या सिपाहियों से बात करती थी। उस नॉविल का हीरो ज़हीर तो है ही, पर इंस्पेक्टर त्रिपाठी भी अहम हैं। उन दोनों की जो लड़ाइयां होती थीं, उनको लिखने से पहले मैं उनसे जुड़े कुछ बुनियादी सवाल कोतवाली के नंबरों पर पूछती थी। सच पूछिए तो ये जो *ज़ीरो रोड* नॉविल है–इसने मुझे सबसे ज्यादा परेशान किया है और सिद्धार्थ का करेक्टर जो था, उसका कोई भी मॉडल मेरे सामने नहीं था कि मैं बहुत आसानी से उसे शब्दों का जामा पहना दूं। और न *कुइयांजान* के डा. कमाल की तरह आसान था, न बेकार लड़कों की ज़हीर की मंडली की तरह–जिसके कुछ न कुछ ब्ल्यू प्रिंट मेरे पास थे–ऑब्ज़र्वेशन था मेरा–बहुत कुछ था। लेकिन सिद्धार्थ का जो मसला था–उसका एक अजीब तरह से विकास हो रहा था। बहुत सारे मोड़ और उतार-चढ़ाव थे। बहुत सारे मनोवैज्ञानिक रिएक्शंस भी मुझे देने थे। ख़ासी मुझे परेशानी–नहीं, परेशानी नहीं–नहीं, झिकाया भी नहीं–जैसे उसने मुझे चुनौती दी कि खड़ा तो करो एक जवान अपनी क़लम से ऐसा। नया शब्द दूं?... एक तरह से ये भी कह सकती हूं...।' रुकना, बोलने-बालने को होना और फिर थमी रहना–जैसे किसी असमंजस ने आ घेरा हो कुछ समय के लिए उन्हें–ये कहूं या यूं कहूं या...।

'अजीब-सी बात कहने जा रही हूं–जब नॉविल खत्म किया–सिद्धार्थ वाला चैप्टर खत्म किया–तो बड़ी उदासी-सी दिल में छा गई। और एक ख़ास अंदाज़ में कहना चाहूं तो ये कि सिद्धार्थ को गढ़ते-गढ़ते, उससे बड़ा लगाव-सा हो गया था मुझे। और जिस करेक्टर ने अपने निर्माण में मुझे सबसे ज्यादा बार-बार आगे-पीछे किया–वह है रोहन का किरदार–जो मेरे नए नॉविल का किरदार है।

आपको अपने लिखने के लिए क्या, कुछ, कैसा ज़रूरी लगता है?

'थोड़ा सुकून चाहिए। मुझे आवाज़ें बड़ा डिस्टर्ब करती हैं। मैं शोर में लिख सकती हूं–पर वह लेखन बड़ा वैसा होगा...। किसी की आवाज़ अगर ख़राब हो तो सिर में दर्द होने लगता है। कह भी कुछ नहीं पाती–बस, सोचती हूं कि ये चुप हो जाएं। कुछ लोग बड़े डल होते हैं। जब कोई डल व्यक्ति मेरे आसपास होता है तो उसके डल होने को लेकर मैं परेशान हो जाती हूं। लगने लगता है कि मुझे हार्ट अटैक हो जाएगा। हमारा इलाहाबाद का घर बड़ा पुरसुकून था। हम चीख़ने-चिल्लाने वाले नहीं थे। कुछ लोग गिलास मेज़ पर रखते हैं तो आवाज़...।''एडेनबरा का घर भी बड़ा पुरसुकून था। मीलों तक हरियाली ही हरियाली। हमारा फ्लैट छह कमरों का था–फोर्थ फ्लोर पर। उसके बाद अट्ठाइस साल की ज़िंदगी जे.एन.यू. में। सरिता विहार वाला इतना पुरसुकून नहीं था–पर अलग-सा था, ठीक था। और छतरपुर का हाल आप देख ही रहे हैं।

'जी, शुरू में तो डा. शर्मा मुझे राइस पेपर देते थे–नाज़ुक-सा पेपर। हमारी सारी करसपोंडेंट उसी में जाती। अब सफ़ेद-कड़कड़ाते काग़ज़ को देखकर मैं ऑफ हो जाती हूं। एकदम साफ़-साफ़ काग़ज़ को देखकर लगता है, जैसे इसका कोई करेक्टर ही न हो। पुराने बोसीदा काग़ज़–लगता है, जैसे वह मुसीबतज़दा हैं, मुसीबत के मारे हैं–हां, उन्हें ढूंढकर निकालती हूं, उन पर लिखती हूं। इधर जब पुराने काग़ज़ों का मिलना कुछ बंद हो गया था, तो अपने ही लिखे काग़ज़ों को पलटकर लिखती थी। ये मेरा भ्रम है या पता नहीं क्या–मुझे पुराने काग़ज़ पर अपनी राइटिंग अच्छी लगती है–बनिस्बत नए काग़ज़ के। नहीं, नहीं, ऐसा कुछ नहीं–रात दिन कभी भी मूड हो, लिखूंगी। कहीं बैठकर लिख सकती हूं–पर क़लम पायलेट नंबर पांच ही हो। जिस तरह मैं अपना कंघा इस्तेमाल को किसी को नहीं देती–इसी तरह क़लम को भी नहीं चाहती कि दूसरा कोई उपयोग करे। इसलिए कि आप जानते हैं कि लिखने में दबाव सबका अलग-अलग होता है।

'जब मैं लिखती हूं तो हर वक़्त लिखती हूं। सच पूछिए तो बच्चे छोटे थे तो बड़ा सुकून था। तब मैं अपनी शुरुआत करती थी ग्यारह बजे। जब वे स्कूल से वापस आते तो मैं क़लम रख देती थी। फिर रात को इन लोगों के सोने के बाद शुरू होती थी। सुबह चार-पांच बजे तक लिखती थी। यह इसलिए कि हम लोगों का स्टडी जे.एन.यू. में एक ही था। पांच बजे तक डा. शर्मा स्टडी में आ जाते थे। वह अपना काम टाइपराइटर पर करते थे–और उसकी टिक-टिक के साथ मैं लिख नहीं सकती थी। तो मैं स्टडी पांच बजे सुबह छोड़ देती थी। अब ये है कि सारे नाज़-नखरे दूर हो चुके हैं। शोर में भी लिख लेती हूं–कहीं पर भी लिख लेती हूं। तय नहीं कि कहां पर। अब घर बड़ा है–स्टडी ऊपर है। और वह जो रूटीन था हम लोगों की ज़िंदगी

का–जो 1967-2003 तक स्ट्रांग रूप से चला–वह इनकी बीमारी के बाद बदल गया–सब बदल गया। नया एडजेस्टमेंट हुआ। इसमें अभी एडजेस्टमेंट की वो चीज़ें मैं पकड़ नहीं पाई हूं कि कहूं कि ये आदत है। बस, अभी एटमॉस्फीयर से एडजेस्ट करती हूं।

आप मानती हैं कि लेखन ज़माने को बदल सकता है? साहित्य के वर्तमान और भविष्य को लेकर आप कैसे सोचती हैं?

'राइटर के पास दुनिया को सुधारने का कोई सोल्यूशन नहीं है। राइटर्स को भी अपनी हदें पहचाननी चाहिए और साहित्य की स्थिति भी। जब से साहित्य लिखना शुरू हुआ है, वह हमेशा एक ख़ास वर्ग का मामला रहा है। किताब फ़िल्म नहीं है। किताब फ़िल्म की तरह मनोरंजन नहीं करती कि उसे आप चलते-फिरते, सफ़र करते देख लें। साहित्य आपका समय लेता है, आपकी ज़िम्मेदारी की आपको याद दिलाता है, आपको अवसाद देता है। इसके पास ज़माना बदलने या सुधारने का कोई बना-बनाया सोल्यूशन नहीं है। ये दुनिया अब सियासतदानों की हो गई है। इसे हम नहीं सुधार सकते।

अच्छा, क्या आपको अपने लेखन में आते गए बदलाव का भी कुछ एहसास है?

'मैं देखती हूं...मैं सोचती हूं अकसर...जी, कहीं एक बुनियादी फ़र्क़ मेरी राइटिंग में आया है। हो सकता है मैं ग़लत होऊं। लेकिन ऐसा लगता है कि जो मेरी शुरू की रचनाएं हैं, उनमें मेरा अवलोकन, मेरा नज़रिया, मेरी संवेदना हावी है। पता नहीं क्यों–मुझे अब लगता है कि मेरे जो चरित्र हैं–उन्होंने मेरी चीज़ों को पीछे धकेल दिया है–और वे अपनी संवेदना–और अपनी शिक़ायत–और अपनी बातें ज़्यादा करते हैं। शायद यह फ़र्क़ कहानी या उपन्यास में हो...मैं नहीं कह सकती।'

सामान्यतः आपकी दिनचर्या क्या रहती है?

'डिपेंड करता है जगने पर–मेरी रात कैसे गुज़री। अगर मैं सुबह पांच बजे तक जागी हूं–और पलक मेरी झपक गई है तो अपने स्टाइल से साढ़े दस-ग्यारह तक–जब तक सिचुएशन बनती है–सोना है–वरना छह-साढ़े छह आंख खुल जाती है। चाय पीने के बाद अख़बार देखती हूं। दो-चार फ़ोन–जहां जिसे करने हों। कुछ लिखना होता है तो लिखती हूं। थोड़ा-बहुत घर के कामों में हाथ बंटाना हो तो कर देती हूं। इस बीच डाक आ गई तो उसको देखा। मूड हुआ तो नाश्ता और खाना खाया। नहीं तो भूली रहती हूं। अब डाक्टर की सख़्त हिदायत है कि टाइम मेंटेन कीजिए। मेरी ज़िंदगी बड़ी आज़ाद रही है। ये आज़ादी इंसानों को नसीब होना बहुत मुश्किल है। ये केवल भूत-प्रेतों को ही नसीब हो सकती है। मैं कभी भी कहीं भी अपनी मरज़ी से उड़ सकती हूं, सो सकती हूं, चल सकती हूं। हां–लेकिन आज़ादी के शेड में बदलाव ज़रूर आया है। वो हालात का तकाज़ा होता है। मैं बेजा आज़ादी की क़ायल नहीं हूं–न रिश्तों में–न प्रोफ़ेशनली भी। दूसरों की क़ीमत पर मैं कभी आज़ाद होना नहीं चाहती। मैंने कभी किसी तरह की क़ीमत हासिल नहीं की। इसे आप एक ब्लैसिंग भी कह सकते हैं–या फिर नाकामी, जो भी कहिए।

हो सकता है, कुछ लोग इसका ग़लत मतलब लें। पर जब आपको अधिक आज़ादी मिली हो तो आप ख़ुद कुछ हदें बना लेते हैं–और वे हदें मुझे परेशान करती हैं। जी, दूसरों को यह समझना शायद मुश्किल हो। मैंने ख़ुद अपने पर बहुत बंदिशें लगा रखी हैं। जैसे छोटी-सी मिसाल दूं–जैसे पान खाना मुझे पसंद है। इस शौक के कारण एक बार बहुत मुसीबत में फंसी। पर न जाने कौन-सी बंदिश है जिसके कारण किसी मीटिंग में–या जहां डिसिप्लिन की ज़रूरत हो वहां पान खाकर नहीं जा पाती। बहुत एवॉयड करती हूं मैं–यदि किसी की कोई अच्छी चीज़ मुझे पसंद आई है तो न मैं उसकी नक़ल करना चाहती हूं अपने लेखन में, न वैसा सामान ख़रीदकर घर में रखना चाहती हूं, न पहनना चाहती हूं।

नासिरा का अर्थ?

'सहायक, मददगार, हिमायती।'

आपके नाम के पहले और दूसरे शब्दों को लेकर क्या आपके कुछ ख़ास अनुभव रहे हैं?

''नहीं, अब नाम तो जुड़ गया। जुड़ना इसलिए भी था कि मेरा पासपोर्ट बनना था। इसके बिना बनता ही नहीं। लेकिन एक बड़ा तजुर्बा है–बीस-पच्चीस साल से एक बड़ा सोलिड तजुर्बा है–अगर मैं फोन पर किसी से कहूं कि मैं नासिरा बोल रही हूं–तो वह कैच नहीं करता और सपाट तरीक़े से बात होती है। और जैसे ही पूरा नाम लेती हूं–फिर वही दोस्ताना रुख़ बातों का। यानी नासिरा के साथ बिना शर्मा लगाए लोग मुझे लोकेट ही नहीं कर पाते। ये इतने दिनों से मैं देख रही हूं–अगर केवल नासिरा तो बना यूं ही–और नासिरा शर्मा तो अरे, नासिरा जी, कहिए, कहिए।''

इन दोनों हिस्सों में से किसने आपको ज़्यादा उपलब्धियां दिलाई?

'आपने बड़ा वैसा सवाल किया है–बहुत ही घरेलू-सियासी सवाल पूछा है–शरारत-भरा। अठारह साल में अपने घर में रही–क्या उपलब्धियां हासिल करूंगी–वहां, उस उम्र में। यहां मुझे बयालीस साल हो गए। सारी उपलब्धियां और सब कुछ तो यहीं मिला है न।' मैंने उनका चेहरा देखा और *ज़ने अजीब* की व्याख्या को किसी फ़ारसीदां द्वारा दी गई को याद किया–वह औरत जिसको पूरा समझना मुश्किल है और समझ में आ जाए तो उसके विस्तार को पकड़ना मुश्किल है।

बाहर हर जगह तो आपको अपने अनुकूल नहीं मिलता होगा सब–तब फिर कैसे करती हैं समायोजन आप?

'यह मेरे महसूस करने की सतह है। व्यावहारिक रूप से अनुशासन में रहना जानती हूं और इंसानी मिज़ाज के रंगों व रसों से भी वाक़िफ़ हूं। तो भी जब मैं टीमवर्क में काम करती हूं तो मैं किसी से ये–वो नहीं करना चाहती। इरीटेट होना या ईगो प्रॉब्लम जैसी कोई बात नहीं। टीमवर्क में काम करने में मज़ा आता है। बचपन में ड्रामे वग़ैरह किए हैं न–तो मैं छोटी-छोटी बातें इग्नोर करती हूं, लेकिन महसूस करना थोड़ी बंद करती हूं। जी–जैसे ज़्यादातर दूसरे की बदतमीज़ी का जवाब या तो बहुत ग़ैरमुनासिब जुमले हों और बहुत-सी अजीब-सी सिचुएशन हो–उसमें एवॉयड करती हूं। पर एक चीज़ मुझे बहुत बेचैन करती है–उस वक़्त मैं अपने को रोक नहीं पाती। किसी ने अगर मुझे ग़लत समझा हो या कोई ग़लतबयानी की हो–तो वह काफी बुरा असर मेरे ऊपर डालती है।'

अपने रचनाकार होने के अनुभव को पहली बार कब-कैसे जिया आपने?

'देखिए...आधा मिनट तक रुककर कुछ सोचा–'कुछ अलग तरह की बात करना चाहती हूं। रिपीटिड चीज़ें बोर कर देती हैं आदमी को।' फिर चुप हो गई। कुछ कहलवाने को यूं ही दो एक सवाल किए तो–'एक रिपोर्ताज़ इंटरमीडिएट में मैंने लिखा था। अभी देख रही थी उसे। हिंदी वाले कहते हैं मेरे रिपोर्ताज़ों की बड़ी चर्चा है। ईरान पर लिखे रिपोर्ताज़ बहुत अच्छे हैं। तो अपनी एक पुरानी कॉपी में आस्ट्रेलिया का एक लेख देखा। आस्ट्रेलिया के तट पर लिखा गया था वह। मैं तो कहीं गई नहीं थी तब तक। कहीं कुछ पढ़ा होगा तो लिखा होगा उसे; पर उस अपने लिखने के अंदाज़ पर मुझे बहुत हैरत हुई। क्या इसकी शुरुआत मेरे अंदर से तभी हो गई थी–और ये दुनिया

की घुमक्कड़ी की भी।'

आपकी रचनाओं के पहले पाठक या श्रोता?

'पहले वाले पाठक सब ग़ायब हो गए हमारे। वे लोग बड़े हो गए। कौन रुकेगा सुनने को? पहले थे-बेटा-बेटी, शौहर। फिर मामला बढ़ा तो श्रीपत जी को पांडुलिपि पढ़ने देने लगी अपनी। वे पढ़ने लगे। फिर मेरी एक दोस्त इमराना और उसकी फ़ैमिली। वह पेशे से डाक्टर हैं और उसके हसबैंड इंजीनियर हैं। तो *कुइयांजान* तक तो ये लोग रहे हमारे साथ। अब जैसे डा. शर्मा का वाटर रिसोर्सिज़ पर एक बड़ा अच्छा पेपर था। उन्होंने उसे नेपाल में पढ़ा था। वह लंदन में छपा था। हम उसकी कॉपी मांगते रहे कि देखें उसमें हमारे काम की कोई चीज़ हो। ये बीमार पड़ गए। जब *कुइयांजान* छपकर आ गया, तब कहीं वह आर्टिकल मिला। इस तरह की जो इंटलेक्चुअल टॉक्स डा. शर्मा से होती थीं, वह नई बढ़ी ज़िम्मेदारियों में एक तरह से खत्म हो गई।' कुछ बहुत कीमती के खो-छिन जाने का-सा अफ़सोस आवाज़ के साथ सुनाई दे रहा है-'वही इमराना और उनके हसबैंड का हुआ। इमराना की फ़ैमिली को-बहुत सारे लोगों को बिठाकर जो मैं सुना-कह लेती थी, वह माहौल भी नहीं रहा। मैं सोचती हूं कि राइटर को अपनी राइटिंग सिर्फ़ पढ़नी ही नहीं चाहिए, सुनानी भी चाहिए। कान बहुत चीज़ों को रद्द करता है। जो-सजेशंस लेती थी-खूब सुनती थी। जो अच्छे होते थे, मानती भी थी।'

पहला कोई लगाव?

अजीब निगाहों से देखा। शायद ऐसी कोई बात पूछे जाने की उम्मीद नहीं थी। दाएं हाथ के अंगूठे ने दाहिनी ओर से और मध्यमा ने बाईं ओर से नाक के शीर्ष को दबाव में लिया है-'कोई लव अफेयर तो है नहीं।...कोई लड़का तो अच्छा लगा नहीं। हां, उनकी बात कहूं आपसे-जिनसे बुज़ुर्गों की ख़्वाहिश थी कि बचपन में मेरी उनसे शादी हो जाए। मुझे फूल सजाने का बड़ा शौक था। मधुमालती की बड़ी बेल थीं हमारे यहां। फूल मैं ही तोड़ती थी, गुलदान मैं ही सजाती थी। उस दिन-वह साहबज़ादे वही थे, जिससे बात चली थी। हां, हां, ख़ानदान का रिश्तेदार लड़का था। अरे, कहां बारह साल के थे। तो किसी ने कहा-भइया, तुम फूल तोड़ दो। उन्होंने उत्तर दिया कि मेरी पैंट की क्रीज़ खराब हो जाएगी।' ऐसी हंसी फूटी कि देर तक रुकी ही नहीं-'आज भी याद है मुझे उनका किरदार और हुलिया बहुत फनी-सा लगा था। ये मेरा पहला-जिसे कहते हैं-एक इंसान को-उसके करेक्टर को-ज़हनी झटका था। अज़ीब-सा एक भाव-कि क्या बेवकूफ़ी की बात है।'

आंखें कहीं सुदूर अदृश्य में जा गड़ी हैं जैसे। फुसफसाते से कहा है-'पहली बार...पहली बार...हाथ जैसे किसी का विस्तार और ऊंचाई बताना चाह रहे हैं।-''मैंने पहली बार उस नीम की-जो बहुत बड़ा पेड़ था-ऊंचाई देखी है। मैं बहुत छोटी थी। हमारी ख़ाला के घर में एक बड़ा-सा नीम का पेड़ था। वर्षों से मैं सड़कों पर, बाग़ों में उस तरह का नीम तलाशती हूं-मगर मुझे इतने सीधे तने वाला-और चौड़े तने वाला कोई नीम नज़र नहीं आया। नीम के पेड़ अकसर आदमी के कद से ज़रा ऊंचे जाकर शाखें लाने लगते हैं। कल फिर मैं ढूंढ रही थी उस नीम को। एकदम से ख़याल उभरा-लगा कि उस नीम को खोज से उस ख़याल ने मुझे मुक्ति दे दी है। उस वक़्त ज़रूर मैं बहुत छोटी रही होऊंगी-दो-तीन साल की। मानी हुई बात है कि उस उम्र में कोई भी पेड़ बहुत ऊंचा लगेगा। वो नीम वर्षों से अपनी ऊंचाई, खूबसूरती, वैभव के साथ मेरे ज़हन में अटका है। उसका ज़िक्र मैंने अपनी कहानी-'ताबूत' में किया है। यह मेरा पेड़ों से साक्षात्कार था-जिससे मैं अब भी मुक्त नहीं हूं-वह कोना...वह पेड़...।'

सुख...?

'दुख का दूसरा चेहरा...ऐसे सोच रही हैं जैसे कुछ और तरह कहना चाहती हैं-'इंसान का साथी-क्योंकि साथ-साथ रहते हैं-मैं उसको कह दूं कि इंसान का हमज़ाद...।'

प्रेम?

'जीने का-जीने का सहारा...जीने का ख़मीर...क्या कहूं...अगर इससे ख़ूबसूरत कह सकती-जीने का नहीं-जीवन का ख़मीर।'

दुनिया?

'एक बड़ा परिवार।'

जीवन की सार्थकता?

'किसी के काम आ जाना।'

ज़िंदगी?

'भूलभुलैया।'

मृत्यु?

'एक भेद-राज़।'

विवाह?

रुके-रुके सोचा कुछ देर-'आपकी कमज़ोरियों का सोख़्ता... सब कुछ...कैसे कहूं इसको छोटे में?'

औरत?

'स्त्री के लिए माफ़ कर सकना ज़रूरी...मर्दों के लिए बहुत-बहुऽऽऽत ज़रूरी चीज़ है औरत को समझना।...होता ये है कि मर्द आंय-बांय-शांय बहुत करता है और सामने जो होता है, नहीं दिखता है।' शायद उन्हें याद नहीं रहा कि सूक्ति में बात करनी है-'स्पष्ट है कि जो मेरा तजुर्बा है, उसके आधार पर कहूं-शौहर कितना भी आवारा, बदमाश हो-घर न आए, जब तक औरत है, घर नहीं टूटेगा। पर औरत तोड़ेगी तो औरत ही बना सकती है।-तोड़ सकती है-ये उसकी मरज़ी है।'

घर?

'हूं-घर को-एक ठिकाना तो नहीं कहा जा सकता-घर उससे ज़्यादा...' कुछ और तरह कहने का इरादा है शायद-'घर एक ठहराव...।'

संतान?

धीमे से हंसी हैं सुनकर-'किसने कहा था-वेरी कॉस्टली हॉबी! -बहुत सख़्त वाक्य कह सकती हूं। इसको ग़लत न लिया जाए। एक ज़िंदगी वह है जो आप बनाते हैं-और एक वह है, जो आपके पैदा किए बच्चे आपको जीने के लिए मजबूर करते हैं। आप साफ़ देखिए-एक में रिवोल्ट है। अपने मां-बाप के ख़िलाफ़। एक में आप सरेंडर करते हैं। ये दिलचस्प बात है कि ये दोनों तरह से मुमकिन हो जाता है-या तो लड़का बदतमीज़ हो-आपकी ज़िंदगी बर्बाद कर दे-या आप उसकी प्यार-मोहब्बत में दीवाने होकर जीने लगें-बर्बाद हों।'

मां?

एक ऐसा अहसास, जिससे जीवन-भर आप मुक्त नहीं हो सकते।' जितनी देर इन कुछ शब्दों पर बोलने में लगाई है, उतनी देर में तो कितना कुछ बोला है नासिरा जी ने पहले। समय के ध्यान आ जाने ने जैसे मुझे एकदम से वहीं रोक दिया था-''अब डा. शर्मा से बात कर लीजिए थोड़ी देर...।' चिंतन की जिस भावभूमि पर वे अब तक थीं, वहां से लौटना जैसे उन्हें खला। अबोले मेरी ओर देखा, जैसे कहना हो कि अभी तो और बातें हो सकती थीं। मुझे काग़ज़ समेटते देख बोलीं-'डा. शर्मा को अभी दिखवाती हूं...।'

'पत्रकारिता की दुनिया में जाने के कारण, हालत या अनुभव

क्या और कैसे रहे...?'

सुनकर थोड़ी देर आंखें बंद किए बैठी रहीं। और फिर–'ईरान के पहले सफ़र ने...वहां का पहला सफ़र...तो हां 1976...तो वहां के पहले सफ़र ने मुझसे रिपोर्ताज़ और लेख लिखवाए। इससे पहले मैं बच्चों के लिए कुछ कहानियां लिख चुकी थी। 'चुतख़ाना' और 'तकाज़ा' नामक कहानियां अमरकांत जी और कमलेश्वर जी छाप चुके थे। मेरे पास ऐसा कुछ नहीं था कि मैं एक लेखक बनने जा रही थी या लेखक जैसी ज़िंदगी शुरू करने जा रही थी। क्योंकि इस तरह की चीज़ें मैंने कॉलिज में भी लिखी थीं। बच्चे छोटे थे। डा. शर्मा को रेस्तरां-होटलों में बैठने का बड़ा शौक़ था। दावतें देने और मेहमाननवाज़ी का बड़ा दौर था। हम लोगों को देखकर अक्सर डा. अस्थाना...जी, वह लाइव साइंस में प्रोफ़ेसर थे और तब तक उनकी शादी नहीं हुई थी...वह अकसर कहते–आख़िर आप दोनों का हनीमून कब ख़त्म होगा। मुझे देखकर शायद किसी को भी गुमान न होगा कि मैं ऐसी निकलने वाली हूं जो आज मैं हूं। डा. शर्मा का लगातार फॉरेन ट्रिप लगता था–सेमिनार्स, टीचिंग। घर में विदेशियों का आना-जाना ख़ूब था। इन सब मसरूफ़ियत की वजह से ही सच पूछिए तो मेरा ड्रामे का शौक़ ख़त्म हुआ। दरअसल मैं समय ही नहीं निकाल पाती थी। मेरा पहला रिपोर्ताज़ 1979 में जब मैं अपने ख़र्चे पर ईरान गई थी...जी, इन सारी सियासी हरक़तों के बाद भी वह रिपोर्ताज़ *असरी अदब* ने भी छापा था–मोहम्मद हसन साहब की जो मैगज़ीन थी–*असरी अदब*। *हिंदुस्तान टाइम्स* में अंग्रेज़ी में और *सारिका* में हिंदी में छपा। इन तीनों ज़बानों में छपकर यकायक पढ़ने वाले साहित्यक लोग मेरे बहुत क़रीब आ गए थे। और वे इतने ज़्यादा ज़िद-सी करते कि मैं अपनी डायरी लिखूं। जो कुछ ऐसी चीज़ें मैंने देखी हैं उनको बयान करूं। मेरा उस समय का इंट्रेस्ट था कि मैं ये साबित करूं कि मुझे फ़ारसी आती है। फिर मेरा तीसरा सफ़र हो गया।...'आपको बताऊं कि...1980 में...जी, मेरे लिए अब महसूस होता है...जी, मैं अब कह सकती हूं कि मुझे तब लेखन में, पत्रकारिता में हर तरफ़ से ख़ुशामदीद कहा जा रहा था। अंग्रेज़ी की जितनी मैगज़ींस थीं उनके करसपॉंडेंट्स घर आते थे लेख-इंटरव्यू लेने। हिंदी में मशहूर–प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में मैं छपी। मेरे लेखों को फ़ारसी में तर्जुमा करके पेरिस-लंदन–जहां भी ईरानियों के पॉलिटिकल अख़बार निकलते थे, में ख़ूब छापा गया। और अजीब इत्तफ़ाक़ है कि जैसा भी एनेलेसिस मैं करती, वह सच निकलता। इससे जाने-अनजाने मेरे लेखन के प्रति लोगों का विश्वास बढ़ने लगा।' ❑

संपर्क : कृष्णाधाम कालोनी, आगरा रोड, अलीगढ़ (उत्तर प्रदेश)

पत्र

पृष्ठ 4 से आगे

पर विशेषांक प्रकाशित कर उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित की गई है। वह किसी पुरस्कार अथवा पद-लिप्सा के मोहताज नहीं थे तथापि अपनी उदात्त प्रतिभा के माध्यम से हिंदी साहित्य को एक नया स्वर देना चाहते थे। उनका 'स्वाधीन क़लम' देश के प्रति पूर्णरूपेण समर्पित था।

आपने अपने संपादकीय में बिल्कुल सच लिखा है कि वह एक जनप्रिय कवि थे और किसी ख़ेमे से नहीं जुड़े थे। वह स्वतंत्र विचारधारा के और बेहद ईमानदार इंसान थे। जीवन भर आर्थिक विपन्नता के शिकार बने और सुख-शय्या पर सोने से वंचित रहे। भारत की स्वतंत्रता का समय और नेपाली जी की कविताओं का शंखनाद मुर्दे में भी प्राण फूंकने की क्षमता दर्शाता है। विशेषांक में प्रकाशित सभी रचनाएं पठनीय एवं संग्रहणीय हैं किंतु गोपाल सिंह नेपाली की पुत्री कमला कुंदर से संजय कुमार की बातचीत मन को छू गई। अंत में उनकी ही पंक्तियों के साथ *बाबुल तुम बगिया के तरुवर, हम तरुवर की चिड़ियां / दाना चुगते उड़ जाएं हम/ पिया मिलन की घड़ियां।*

–दानबहादुर सिंह, रीवा (म.प्र.)

सौग़ात

● गोपाल सिंह नेपाली को याद करना साहित्य-जगत में अविस्मरणीय अनूठा एवं ऐतिहासिक कार्य है, जो नवीन कीर्तिमान स्थापित करता है। नेपाली जी का सारा जीवन काव्य सौंदर्य सुषमा के उस प्राकृतिक अंचल में बीता जहां से उन्हें हिमालय ने पुकारा था। यह उसी प्रतिष्ठित बिंब की एक झलक है। जहां नेपाली का संपूर्ण जीवन और काव्य-लेखनी में आत्मसात हुआ। नेपाली जी पर भरपूर एवं प्रचुर सामग्री, छाया चित्र को देकर जिज्ञासु पाठकों के लिए आपने एक स्मरणीय एवं संग्रहणीय सौग़ात दे डाली है।

–भूदेव भूषण, भागलपुर (पटना)

कालजयी कवि

● कालजयी कवि गोपाल सिंह 'नेपाली' के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को समर्पित विशेषांक के रूप में अंक अद्वितीय लगा। अनेक स्वनाम धन्य साहित्यकारों के आलेखों में प्रदत्त जानकारी प्रेरणादायी है। उनकी कविता 'यह लघु सरिता का बहता जल' पढ़कर भावविह्वल हो उठा। यह कविता मैंने प्राथमिक शिक्षा काल में पाठ्यपुस्तक में पढ़ी थी। नवीन कल्पना करो, दीपक जलता रहा..., मैं प्यासा आदि कविताएं आज भी चिर नवीन हैं तथा हृदय पर अमिट प्रभाव डालती हैं। वे विराट मानवता के कवि थे।

बाल दिवस के उपलक्ष्य में बाल-साहित्य विषयक सामग्री प्रासंगिक तथा समसामयिक है। 'सृजनात्मक बाल साहित्य' परिचर्चा उपयोगी है किंतु प्रायोजित होने के कारण प्रयोजन पूर्ण करने में अक्षम रही। बाल लेखन के संबंध में राष्ट्रीय स्तर पर स्वतंत्र बाल साहित्यकारों के विचार आमंत्रित किए जाने चाहिए।

–गौरी शंकर वैश्य 'विनम्र', आदिलनगर, लखनऊ (उ.प्र.)

भूल सुधार

फरवरी अंक में प्रकाशित 'भगत सिंह की विरासत का चमकता सितारा' के लेखक द्वय पल्टू और दलजीत अमी हैं। त्रुटिवश दलजीत अमी का नाम छूट गया था।

कुछ देर ठहर लें...

क्षमा शर्मा

बचपन में जब सोकर उठती थी तो सर्र-सर्र की आवाज़ आती थी। मां बड़ी चलामनी में रस्सी को चारपाई में फंसाकर और उसे बड़ी रई में लपेटकर मक्खन बिलो रही होती थी। साथ में *रामचरितमानस* की चौपाइयां भी गुनगुनाती जाती थी। इससे पहले वह दो गायों, एक भैंस, बछड़े, कई बकरियों, कुत्ते और तोते का दाना-पानी कर चुकी होती थी। उनका दूध दुहना, उनके छप्परों की सफ़ाई, गोबर के उपले और खाना बना चुकी होती थी। नहाना तो वह इन सबसे पहले कर ही चुकी होती थी। कड़कती सरदी में कुएं से पानी खींचना, उससे पहले अंगीठी और चूल्हा जलाना, साबुत नमक, मिर्च, हल्दी, धनिए को सिल पर पीसना सब आज की तरह आसान काम नहीं थे। स्कूल जाने से पहले मुझे मनुहार करके खिलाना। फिर चोटी गूंथना, काजल लगाना और सिर पर हाथ फेरकर विदा करना। जब मैं स्कूल से लौटती थी तो देखती थी कि मां कभी बड़ियां बना रही है, कभी पापड़ तो कभी अचार डाल रही है। मेरे लिए फ्रॉक सिलना, पिता के पुराने कपड़ों से अपने लिए ब्लाउज़, पेटीकोट, तकिए के ग़िलाफ़ या रूमाल बनाना, पुराने स्वेटरों को उधेड़कर नए बनाना और तो और फटे-पुराने कपड़ों से ऐसे गद्दे तैयार करना जिन्हें गरमी के दिनों में बिछाया जा सके क्योंकि गरमी के दिनों में रुई के गद्दे गरमी देने वाले माने जाते थे। तब आज की तरह रिसाइकिलिंग के नारे फैशन में नहीं थे। आज सरकारों को रिसाइकिलिंग पापुलर करने के लिए फंड्स देने पड़ते हैं मगर उन दिनों यह एक परिवार को चलाने के लिए आवश्यक मानी जाती थी। इसकी वाहक थीं घरेलू स्त्रियां। इन औरतों ने बचत और खर्च करने, इनफ्लेशन, सेंसेक्स और मंदी के इकॉनामिक्स के नियम नहीं पढ़े थे मगर कम आय में परिवार को कैसे चलाना है इसे मां और उस जैसी स्त्रियां बहुत बेहतर तरीके से जानती थीं। इसे इन्होंने किसी ट्रेनिंग स्कूल में नहीं बल्कि कार्य और व्यवहार की पाठशाला और परंपरा के गुणनफल से सीखा था। इन सब कामों के अलावा क्यारियों में मौसमी सब्ज़ियां बोना, उन्हें साफ़ करने अगले मौसम के लिए सुखाना, घर में हर तरह से इस्तेमाल करना मां को बखूबी आता था।

आज सारी सहूलियतों के बावजूद हम पल-पल निराश होते हैं। जीवन से हमारी आस्था डिगने लगती है मगर मां शायद ही कभी निराश होती थी। वह हमें हमारी विधवा चाचियों, बुआओं और मौसियों का उदाहरण देती थी जिन्होंने अनेक कठिनाइयों में भी ज़िंदगी से हार नहीं मानी थी। आज न मां है, न वे चाचियां, ताइयां, मौसी या बुआएं जो ज़िंदगी की चिता में जलते-जलते इस दुनिया से विदा हो गईं लेकिन उनकी तमाम बातें और छवियां अब भी आंखों के आगे तैरती हैं। इन अभागी स्त्रियों की मदद के लिए आज की औरत की तरह न दहेज के ख़िलाफ़ कोई कानून की मदद थी, न ही घरेलू हिंसा के ख़िलाफ़ कोई कानून था। पति की मार-पिटाई, दहेज, उत्पीड़न या किसी और मुसीबत को वे भाग्य के भरोसे और ईश्वर की माया अथवा पिछले जन्म में किए गए पापों का फल मानकर चुप बैठ जाती थीं। इस औरत की तकलीफ़ देखनी हो तो महादेवी वर्मा के संस्मरण हैं जिन्हें इस दौर की औरत के प्रतिनिधि चरित्र के रूप में देखा जा सकता है।

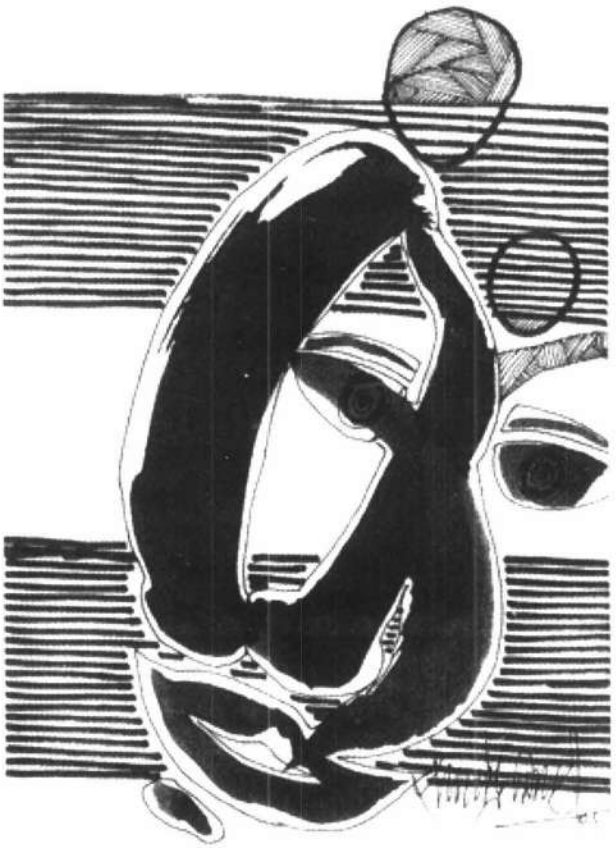
> *मां के बाद की और आज की पीढ़ी से पहले की स्त्री घर और दफ़्तर के बीच जिस तरह से पिसी और एक पेंडुलम की तरह घर और दफ़्तर के बीच पेंडुलम की तरह बैलेंस बिठाती रही यह ग़ौर करने लायक बात है। इस स्त्री ने अपनी मां से सीखा था कि कैसे पैसे न होने से औरत की दुर्दशा होती है। आज की जेनरेशन ने इस बीच की पीढ़ी की औरत से सीखा जो घर और दफ़्तर के बीच पिस रही थी। इसीलिए आज की लड़की कैरियर बनाने में तो दिलचस्पी रखती है मगर घर की ज़िम्मेदारी नहीं लेना चाहती। घर उसे एक कारागार जैसा क्यों दिखाई दे रहा है इस पर ज़रूर सोचना चाहिए।*

हाइस्कूल और इंटरमीडिएट के बोर्ड के इम्तिहानों के दौरान जब मैं रात को पढ़कर मां के पास सोने जाती थी, तो वह मेरे ठंडे हाथों को अपने गरम पेट पर रखती थी जिससे कि वे जल्दी गरम हो जाएं। रात में कई-कई बार कंबल और रज़ाई उढ़ाती थी कि कहीं मुझे ठंड न लग जाए। तब कभी नहीं लगता था कि इससे मां को कितनी परेशानी हो रही होगी। हम बच्चों की सुविधा के लिए वह हर सुख कुरबान कर देती थी। बल्कि आज तो कोई इस बात को सुनकर चकित हो सकता है कि मैं इतनी बड़ी उम्र तक मां के पास सोती थी।

इस दौर की औरतों का जीवन कितना कठिन था। कर्त्तव्य की बलिवेदी और घर को ढोते-ढोते वे अपना पूरा जीवन होम कर देती थीं मगर उनकी मेहनत, उनके अकेलेपन, बीमारियों को किसी को न बताना और सहते जाना और ईश्वर से इस तरह की मौत की कामना करना कि अंतिम समय उन्हें किसी से सेवा न करानी पड़े। बच्चों और परिवार से मिली हर पल की उपेक्षा शायद इस तरह से सोचने को मजबूर करती थी, इन सब बातों और उनके दर्द की कहीं शिनाख्त तक नहीं होती थी। घर एक प्रेत की तरह मृत्युपर्यंत उनके सीने पर चढ़ा रहता था। यही नहीं जिन बच्चों के लिए वे न रात देखती थीं न दिन उन बच्चों के हाथों उन्हें कितना अपमान झेलना पड़ता था, इसका शायद कहीं ठीक से उल्लेख भी न मिले, और बच्चों को इस बात का कभी एहसास तक नहीं होता था। मगर इसे भी वे अपने भाग्य का लेखा समझकर संतोष कर लेती थीं।

अपने मां-बाप को मूर्ख, देहाती, समय के साथ न बदलने वाले साबित करने में उस दौर के बच्चे काफ़ी गौरव अनुभव करते थे। वे अकसर माता-पिता ने उनके लिए क्या नहीं किया। इस बात का पिटारा खोले बैठे रहते थे। उनकी अथक मेहनत, कम संसाधनों में भी परिवार की ज़रूरतों की पूर्ति उन्हें बहुत कम दिखाई देती थी।

मां इन सब चीज़ों को समझती थी। कहती थी कि ज़िंदगी में दूसरे के सामने हाथ फैलाने से बड़ा दुख कोई नहीं है। उसने कभी अपने लिए किसी कपड़े, जेवर या किसी और चीज़ की फ़र्माइश किसी से नहीं की। याद नहीं पड़ता कि उसने कभी अपने किसी बच्चे से उसकी आय के बारे में पूछा हो। हां उसकी इच्छा यह ज़रूर थी कि उसकी लड़कियां आत्मनिर्भर हों चार पैसे कमाएं इसलिए उसने न केवल हमें बल्कि अपनी बहुओं को पढ़ाने-लिखाने में भी बड़ी भूमिका निभाई। मां को दुख था कि वह ज्यादा पढ़-लिख नहीं सकी। इसलिए अकसर कहती थी कि अगले जन्म में अगर याद रहा तो खूब पढ़ूंगी और कभी शादी नहीं करूंगी। वह कहती थी कि शादी और घर-गृहस्थी का जंजाल बिलकुल बेकार है। पूरा जीवन व्यर्थ निकल जाता है। आज सोचती हूं तो लगता है कि इतनी हाड़-तोड़ मेहनत के बाद ऐसी कौन-सी बात थी जो मां को यह कहना पड़ा। क्या उस दौर की हर औरत की कहानी मां जैसी ही थी। हां, कोई कह पाती थी, कोई ख़ामोशी से अपने आंसू पी लेती थी। आज के दौर की लड़की की स्थिति मां के दौर की स्त्रियों से इसलिए बेहतर है कि इस स्त्री को हमारे लोकतंत्र, शिक्षा, स्त्री अधिकारों के प्रति जागरूकता और आत्मनिर्भरता ने एक वाणी दी है। घुट-घुटकर दम तोड़ने से बेहतर है कि अपनी तकलीफ़ के बयान किया जाए जिससे कि कम-से-कम एक औरत जिस तकलीफ़ से गुज़र रही है उससे दूसरी को न गुजरना पड़े। नारि न मोहि नारि के रूपा की जगह एक औरत बढ़े। दूसरी उसका हाथ पकड़े तो जैसे सिस्टरहुड या बहनापा क्रिएट हो सकता है, उससे हर लड़की आगे बढ़ सकती है। अपने दुर्भाग्य को पलीता लगा सकती है।



काश कि मां की पीढ़ी के लिए भी यह सब सोचा गया होता। उस जैसी औरतों का जीवन तो मुसीबतों से दो-चार होता ही बीत गया। स्वेटर को उधेड़ने-बुनने में ही जीवन-तमाम हुआ। जिस रिसाइक्लिंग को इन दिनों एनवायरमेंट के लिए बहुत जरूरी माना जाता है उसे ये औरतें किसी एन. जी.ओ. या किसी नारे से बहुत बेहतर तरीके से जानती थीं। इसलिए तो हर चीज का कोई दूसरा इस्तेमाल था। कोई शीशी ख़ाली हुई तो अचार के काम आ जाएगी। कोई साड़ी फट गई तो वह चीजों को बांधने या मट्ठा और घी को छानने के काम आएगी। या कि रज़ाई-कंबल और गद्दों के लिहाफ़ बन जाएंगे। दाल बच गई, आटे में गूंथा लो परांठे तैयार हैं। आलू ज्यादा हैं, लीजिए चिप्स हाज़िर है। कोई डिब्बा टूट गया। चलिए तुलसी का गमला मिल गया। चावल बच गए तो पापड़ और बड़ियां बन जाएंगी, पुलाव और खिचड़ी भी तैयार हो सकती है। या कोई त्योहार हुआ तो खीर क्या बुरी है। पैंट पुराना हो गया। गेहूं पिसवाने के थैले बनाने के काम आएगा। मिर्च फटका क्यारी में जाकर तो लीजिए फ्री में मिर्च के पौधे उग आए। खराब बैंगन-टमाटर को क्यारी में डाल दिया, ढेर के ढेर टमाटर-बैंगन के पौधे आपके स्वागत में खड़े हैं। मौसमी सब्जियां सुखाना आम बात थी जिससे कि जब मौसम न रहेगा तो इनका स्वाद दूना हो जाएगा। उन दिनों न तो फ्रिज थे और न ही आज की तरह मीडिया में जंक या किसी बची चीज को दोबारा इस्तेमाल करने और कबाड़ से जुगाड़ करने के कॉलम्स छपते थे। न ही हर पत्रिका, अख़बार, चैनल में मास्टर शेफ खान-पान सिखाने के लिए उपलब्ध थे, न ही टी.वी. उनकी गौरव गाथाओं को सुनाने के लिए घर-घर था। ये चीजें तो इन स्त्रियों ने अपनी मां और इनकी मां ने अपनी मां से परंपरा में देखादेखी पाई थीं। किसी त्योहार के अवसर पर मिठाइयों से लेकर नमकीन तक सब घरों में ही तैयार होते थे बल्कि ये स्त्रियां ही अपनी अगली पीढ़ी की स्त्रियों की पाठशालाएं थीं। इन स्त्रियों की सामूहिकता और उनसे जुड़ी सफलताओं को बखान करने के लिए एन. जी. ओ. भी नहीं थे। मगर त्योहार, शादी-विवाह के अवसर पर इनकी अनोखी सामूहिकता दिखाई देती थी। होली का अवसर याद आता है। जब घर बांट लिए जाते थे। आज इसके यहां गुझिया बनेंगी कल उसके यहां। अपने-अपने घरों का काम निबटाकर ये स्त्रियां अपने-अपने चकला-बेलन लेकर निकल पड़ती थीं। और देखते-देखते सैकड़ों गुझिया तैयार हो जाती थीं। इसी तरह शादी-विवाह के अवसर पर पूरी की पूरी बारात को खाना खिलाने का हौसला ये औरतें रखती थीं। लेकिन इन सब बातों को औरताना काम या औरतों का कर्त्तव्य मानकर फ़र्श के नीचे खिसका दिया जाता था। खाना पकाना, अचार डालना या सीना-पिरोना भी कला हो सकती हैं इसे इस दौर की औरतें इतना नहीं जानती थी। यह सब कलाएं तो उन्हें विरासत में मिली थीं और घर को कम खर्च में कैसे सुघड़ तरीके से चलाया जाए, इस बात को बताती थीं। आज की तरह कभी किसी सर्वे ने यह भी नहीं बताया था कि इस औरत ने अपने पूरे जीवन कितने घंटे काम किया। आज खाना पकाने से लेकर, कशीदाकारी, साज-सज्जा, बुनाई-सिलाई सबके इंस्टीट्यूट खुले हैं इनसे भी औरतें पैसा कमा सकती हैं। इसे सैल्फ हैल्प ग्रुप्स से ज्यादा कौन जानता है। लेकिन फेमिनिस्ट डिसकोर्स

में अकसर इन कामों को मजाक उड़ाने और अनपढ़ होने के रूप में कुछ लोग देखते रहे हैं।

यही नहीं पुरानी पीढ़ी की औरतों को हिकारत की नज़र से देखने का एक खास कारण यह भी था कि उनके पास कमाई का कोई ज़रिया नहीं था। उनके सारे काम बेशक घर को चलाने में मदद करते थे मगर उन्हें नॉन प्रोडक्टिव कामों में शामिल किया जाता रहा। खाना बनाना काम नहीं कर्त्तव्य है, ऐसा माना जाता रहा है। जबसे हमारे यहां महिलाओं में शिक्षा बढ़ी, उनके आत्मनिर्भरता के प्रश्न बढ़े, वे आत्मनिर्भर हुईं तब से अब तक सचमुच ऐसा हुआ कि महिलाओं के कंधों पर दोहरी-तिहरी ज़िम्मेदारियां आ गईं। घर के मोर्चे पर उन्हें चौका-चूल्हा करना था, बच्चों की सही परवरिश करनी थी, नौकरी में अच्छा कामगार साबित होना था, घर और दफ्तर के तनावों को झेलना पड़ता था।

आज की औरतें अपनी सफलता पर चाहे जितनी इतराएं मगर उनकी कामयाबी के पीछे उनकी पहली पीढ़ियों की स्त्रियों की कितनी मेहनत छिपी है, इसका बयान करना मुश्किल है। इन औरतों के हाथ में पैसा कभी नहीं रहा इसलिए, पैसे के महत्त्व और स्त्रियों को उससे मिलने वाली शक्ति को बहुत अच्छी तरह से जानती थीं। लड़कियों की शिक्षा-दीक्षा, उनकी आत्मनिर्भरता में इन स्त्रियों के इस सोच की बड़ी भूमिका है। या यों कहें कि आज की औरत की सफलता पिछली पीढ़ी के औरत के संघर्ष की कहानी है। हो सकता है उन्होंने अपनी तकलीफ़ों में कभी उफ़ न की हो मगर यह उन्हीं की ख़ामोशी थी कि आज की औरत को आवाज़ मिली। उसे आत्मनिर्भरता का पाठ मिला। शिक्षित होने के अवसर मिले।

मां बुढ़ापे में जिस बात को समझ पाई थी आज की जेनरेशन के लड़के-लड़कियां उसे पहले ही दौर से समझते हैं। आज की लड़कियों और लड़कों से बात करें वे विवाह में कम रुचि दिखाते हैं। कई पढ़ाई करने के कारण शादी करना नहीं चाहते। कुछ को दोहरी ज़िम्मेदारियां निभाने में दिक्कत है। बहुतों को लगता है कि सफल कैरियर में शादी और परिवार की जिम्मेदारी सबसे बड़ा रोड़ा है। कहना तो यह चाहिए कि नौकरी सफलता और उसे बनाए-बचाए रखने की जद्दोजहद इतनी ज्यादा है कि इस जेनरेशन के पास रिलेशनशिप और शादी के लिए समय ही नहीं है। मां जिस निष्कर्ष पर पूरा जीवन जीने के बाद और घर में रहने के बाद पहुंची थी, आज की पीढ़ी बिलकुल शुरुआती दौर में ही पहुंच जाती है। मां और उस जैसी तमाम औरतों ने जिसे कर्तव्य समझकर निभाया, कभी उफ़ नहीं की, उफ़ की भी तो किसी को सुनाई नहीं पड़ा।

इस पीढ़ी को लगता है कि कैरियर की जिम्मेदारी निभाने के अलावा उनके पास समय ही नहीं है। जबकि इस दौर की लड़की के रास्तों को तकनीक ने कितना आसान कर दिया है। यह उसके जीवन का सबसे बड़ा वरदान है।

उसे न मां की तरह चूल्हा फूंकना है, न उसे घर की झाड़ू-बुहारू करनी है। न ही जानवरों का दाना-पानी, न सवेरे से शाम तक कपड़े धोने हैं न मसाले पीसने हैं, न ही पापड़-बड़ियां तोड़नी हैं, न ही भगवान की देन मानकर दर्जन भर बच्चे पैदा करने हैं। और सबसे महत्त्वपूर्ण तो यह कि एक-एक पैसे के लिए दूसरे का मुंह नहीं जोहना है। न हर खर्च किए गए पैसे का हिसाब देना है। तकनीक ने दुनिया को खासकर औरतों की दुनिया को बदल दिया है। शिक्षा ने औरतों को ताकत दी है कि वे भी कुछ कर सकती हैं, आसमान छू सकती हैं और आत्मनिर्भरता ने दिया है, उसे आत्मविश्वास अपने सपनों को पंख लगाकर पूरा करने का।

स्त्री की दुनिया में एक तरफ तकनीक ने स्त्री के जीवन को आसान किया है तो दूसरी तरफ नौकरी ने उसे घर और बाहर दोनों की जिम्मेदारी सौंपी है। ये औरतें इस दोहरे-तिहरे बोझ को नहीं संभाल पा रही हैं। वे विभिन्न रोगों की शिकार हो रही हैं। मां के बाद की औरतों की पीढ़ी यानी कि हमारी पीढ़ी ने इस दोहरी ज़िम्मेदारी को मुसीबत को बहुत झेला है। चौबीस घंटे की चलती एक चक्की, घर से दफ्तर, दफ्तर से घर। घर में दफ्तर के काम याद आते रहते हैं और दफ्तर में घर में फैले तमाम काम मुंह फैलाए खड़े दिखाई देते हैं। फिर इसी पीढ़ी को हर बार यह भी सुनना पड़ा कि इन औरतों से किसने कहा था कि नौकरी करने बाहर निकल आओ। एक औरत नौकरी करती है तो एक आदमी का हक़ मारती है। औरतें नौकरी करती हैं तो अपने जेवर-कपड़ों पर खर्च करती हैं जबकि एक आदमी के नौकरी करने से उसका पूरा परिवार चलता है। इस औरत की भागमभाग किसी को क्यों नज़र नहीं आती। इस पीढ़ी की औरत अपनी मां की पीढ़ी से इसलिए अलग है कि उस मां ने रात-दिन खटक कर अपनी बेटी को इस योग्य बनाया कि वह चार पैसे कमा सके और किसी के आगे हाथ न फैलाए। मां की पीढ़ी की औरतों को इस स्त्री ने रात-दिन खटते देखा। साथ ही उन्हें कोई सम्मान न मिलते भी देखा जिसकी कसक इस बीच की पीढ़ी की औरतों को ज़रूर रही है। इस बीच वाली स्त्री की बेटी ने अपनी मां को सवेरे-शाम घर और बाहर की चक्की में पिसते, कराहते-सांस फूलते देखा है। यही नहीं अपनी नानी की मेहनत-मज़दूरी की कहानियां भी सुनी हैं। इसलिए आज की यह लड़की शादी के बंधन में नहीं बंधना चाहती। वह अपनी मां की तरह दो मोर्चों पर सफलता की कहानी नहीं लिखना चाहती। वह अपनी नानी की तरह घुट-घुटकर दम नहीं तोड़ना चाहती।

यहां मां का उदाहरण तो इसलिए दिया कि उसे मैं बहुत नज़दीक से जानती हूं मगर उसकी पीढ़ी की अधिकांश औरतों की कथा को दुख ही जीवन की कथा रही, में ही बयान किया जा सकता है। चूल्हा फूंकते-फूंकते उनकी आंखें फूट गईं या अन्य रोगों की शिकार हुईं और घर का बोझ ढोते कमर टूट गई। तिस पर भी तुर्रा यह कि तारीफ का एक शब्द नहीं मिला।

मां को दुनिया में सबसे बड़ी बात लेखक होना लगता था। तुलसीदास और जयशंकर प्रसाद उसके सबसे प्रिय लेखकों में से एक थे। साहित्य को ज्यादा पढ़ने का अवसर नहीं मिला था मगर लिखना जैसे जीवन का सबसे बड़ा काम था। ऐसा क्यों था, नहीं पता। आज की स्त्री की तरह मां को बाहर निकलने के लिए ज्यादा अवसर नहीं मिले थे मगर अपने अनुभवों से स्त्रियां काफी मैच्योर थीं। मां के बाद की और आज की पीढ़ी से पहले की स्त्री घर और दफ्तर के बीच जिस तरह से पिसी और एक पेंडुलम की तरह घर और दफ्तर के बीच पेंडुलम की तरह बैलेंस बिठाती रही। यह ग़ौर करने लायक बात है। इस स्त्री ने अपनी मां से सीखा था कि कैसे पैसे न होने से औरत की दुर्दशा होती है तो आज की जेनरेशन ने इस बीच की पीढ़ी की औरत से सीखा जो घर और दफ्तर के बीच पिस रही थी। इसीलिए आज की लड़की कैरियर बनाने में तो दिलचस्पी रखती है मगर घर की जिम्मेदारी नहीं लेना चाहती। घर उसे एक कारागार जैसा क्यों दिखाई दे रहा है, इस पर ज़रूर सोचना चाहिए। ❑

संपर्क : ।7बी/।, हिंदुस्तान टाइम्स अपार्टमेंट, मयूर विहार, फ़ेज़-।, दिल्ली-।1009।

कम-से-कम एक दरवाज़ा

सुधा अरोड़ा

आज से करीब डेढ़ सौ साल पहले की भारतीय स्त्री को अपनी सामाजिक स्थिति और यातना की पहचान नहीं थी। अपने घर की चहारदीवारी को परेशानियों से बिला शिकायत जूझना उनकी मजबूरी थी और उन्हें यथासंभव संवार कर चलना उनका स्वभाव। घर से बाहर उनकी गति नहीं थी इसलिए जहां, जितना, जैसा मिला, सब शिरोधार्य था। सहनशीलता और त्याग उनके आभूषण थे । अगर सम्मान मिला तो अहोभाग्य, दुत्कार मिली तो नियति–क्योंकि अपने जीवन से एक स्त्री की अपेक्षाएं कुछ थी ही नहीं। एक मध्यवर्ग की स्त्री अगर प्रतिभावान और रचनात्मक हुई तो वह रसोई और बच्चों की देखभाल के बाद दोपहर के बचे हुए समय में, घर के फेंके जाने वाले सामान से चित्रकला या क्रोशिए से बॉर्डर या कवर बुनतीं, साड़ियां, चादरें और तकिया ग़िलाफ़ काढ़तीं–इस तरह अपना पूरा समय वे घर की चहारदीवारी के भीतर की स्पेस को सजाने-संवारने-निखारने में बिता देतीं।

अपने अधिकारों के प्रति अज्ञानता, अपने घरेलू श्रम को कम करके आंकना, बचपन में विवाह, विधवा हो जाने पर सामान्य जीवन जीने पर अंकुश आदि ऐसी कुरीतियां थीं जिसके चलते उन्हें शिक्षित करना उस कालखंड की अनिवार्यता बन गई। स्त्रियां शिक्षित हुईं । शिक्षा से स्त्रियों का जागरूक होना स्वाभाविक था। लेकिन बाहरी स्पेस में उनका काम स्कूल में अध्यापन करने तक ही सीमित रहा । शिक्षा के बाद की दूसरी सीढ़ी आई, उन्हें आत्मनिर्भरता का पाठ पढ़ाया गया और शिक्षण से आगे, बैंकों में, सरकारी दफ्तरों में, कॉरपोरेट जगत में और अन्य सभी क्षेत्रों में स्त्रियों ने दख़ल देना शुरू किया। आर्थिक रूप से हर समय अपना भिक्षापात्र पति के आगे फैलाने वाली स्त्री ने घर को चलाने में अपना आर्थिक योगदान भी दिया। पर इससे उसके घरेलू श्रम में कोई कटौती नहीं हुई। इस दोहरी ज़िम्मेदारी को भी उसने बखूबी निभाया। माना कि भारतीय समाज में वैवाहिक संबंधों में बेहतरी के लिए समीकरण बदले हैं, पर वह स्त्रियों के एक बहुत छोटे से वर्ग के लिए ही है–जहां पुरुषों में कुछ सकारात्मक बदलाव आए हैं। मध्यवर्गीय स्त्री के एक बड़े वर्ग के लिए आज स्थितियां पहले से भी बहुत ज़्यादा जटिल होती जा रही हैं ।

हमारे समाज में जो बदलाव हमें दिखाई दे रहे हैं, वे बहुत ऊपरी हैं। आज भी हम स्त्रियों को उनका अपेक्षित सम्मान नहीं दिला पा रहे हैं और न ही उनके लिए परिवार और समाज की ओर से वह सपोर्ट सिस्टम तैयार कर पा रहे हैं जो उन्हें जीवन की विसंगतियों से, असुविधाओं और कठिन परिस्थितियों से जूझने के रास्ते मुहैया करवा सके। शिक्षित करके हमने उन्हें अर्थ उपार्जन का रास्ता तो दिखा दिया, आत्मनिर्भर बनाकर उन्हें अपने पैरों पर खड़ा भी कर दिया, पर हम उन्हें जीवन जीने की कला, विपरीत परिस्थितियों से जूझने का तरीका, अपने लिए एक दरवाज़ा खुला रखने का ढब नहीं सिखा पाए।

पिछले वर्ष अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस के दिन 8 मार्च 2011 से 28 सितंबर 2011 तक–छह महीनों के अंदर मुंबई के उपनगरों में बीस से बत्तीस की उम्र की चार लड़कियों की आत्महत्याएं नए सिरे से हमारे सामने ढेर सारे सवाल खड़े करती हैं। ये चार तो अख़बारों के पहले पन्नों पर दर्ज किए गए मामले थे, प्रताड़ना के कई मामले तो बदनामी के डर से घर के सदस्यों द्वारा ही दबा दिए जाते हैं। पहले हम इन चारों आत्महत्याओं की स्थितियों पर एक नज़र डालें–

8 मार्च 2011–अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस के दिन, जब दिल्ली से राधिका तंवर की हत्या की खबर पहुंची, उसके साथ ही दिल दहला देने वाली खबर थी–निधि गुप्ता (जालान) की–जिसने मलाड के एक रिहायशी टावर के उन्नीसवें माले के रिफ्यूज एरिया में जाकर अपने छह साल के बेटे गौरव और तीन साल की बेटी मिहिका को छत से नीचे फेंकने के बाद खुद कूद कर तीन ज़िंदगियों का अंत किया। निधि गुप्ता एक चार्टर्ड अकाउंटेंट होने के साथ, मलाड के सराफ कॉलेज की विज़िटिंग लेक्चरार थी और एम.बी.ए. की परीक्षा में बैठने की तैयारी कर रही थी।

16 अप्रैल 2011 –दहिसर पूर्व के एक टावर की सातवीं मंज़िल पर रहने वाली दीप्ति चौहान (परमार) ने वॉचमैन से छत की चाभियां लीं। वहां जाकर पहले अपने छह साल के बेटे सिद्धेश की आंखों पर पट्टी बांधकर उसे छत से नीचे फेंका और उसके बाद खुद कूदकर अपनी जान दे दी। दीप्ति एक गृहिणी थी और उसका पति नीलेश शेयर मार्केट का ब्रोकर।

26 जुलाई 2011 –शिवानी साहू –एम.बी.ए. ने, मुलुंड पूर्व के अपने निवास पर, डेढ़ साल की अपनी बच्ची को छोड़कर पंखे से झूलकर आत्महत्या कर ली।

28 सितंबर 2011 –निधि सिंह–उम्र–चौबीस वर्ष–आई.आई.टी. कानपुर की स्नातक और एम.बी.ए. –फरवरी में समदर्शी सिंह से प्रेम विवाह किया और मुंबई के उपनगर अंधेरी पूर्व में पहली मंजिल के फ्लैट में चार महीने पहले ही शिफ्ट हुई थी, शादी के सात महीने बाद, पंखे से झूलकर आत्महत्या कर ली। यह कदम उठाने से पहले उसने अपने मोबाइल पर एक

मिनट का अपना बयान रिकॉर्ड किया कि उसके इस निर्णय में किसी का हाथ नहीं है। वह अपने माता-पिता और पति को अपनी कुंठाओं से परेशान नहीं करना चाहती इसलिए अपने जीवन का अंत कर रही है।

आज स्त्रियों को लेकर पूरा परिदृश्य बहुत ज़्यादा निराशाजनक है । रोज़ का अख़बार स्त्री के साथ घटित नए हादसे लेकर हमारे सामने आता है पर समय जितना असंवेदनशील होता जा रहा है, ये हादसे घटित होने के पहले दिन जैसे अख़बार के पहले पन्ने पर रहते हैं और अगले कुछ दिनों में तीसरे-चौथे पन्नों पर स्थानांतरित होकर अख़बार से ग़ायब हो जाते हैं , वैसे ही हमारे दिमाग़ पर सिर्फ पहले दिन इनकी दस्तक हथौड़े-सी पड़ती है पर धीरे-धीरे ये हमारी आंखों से ओझल होते ही मन पर हल्की सी खरोंच छोड़कर हमारी सोच का हिस्सा बनने से पहले ही हमारी दहलीज़ छोड़ जाते हैं।

इन चारों आत्महत्याओं में कुछ आश्चर्यजनक समानताएं हैं। मध्यवर्ग से आई ये चारों लड़कियां पढ़ी-लिखी थीं। शादी से पहले नौकरी करती थीं। चारों ने अपनी मर्ज़ी से अपने जीवनसाथी का चुनाव कर प्रेम विवाह किया। अपनी डिग्रियों और योग्यता के बल पर वे अपना एक स्वतंत्र मुकाम बना सकती थीं, फिर इन्होंने आत्महत्या का रास्ता क्यों चुना? शिक्षा, आर्थिक आज़ादी और आत्मनिर्भरता के बावजूद ऐसे हादसों पर रोक नहीं लग पाई तो क्यों? आखिर चूक कहां हो गई? यह सवाल किसी भी सोचने-समझने वाले व्यक्ति को, सामाजिक कार्यकर्ताओं को, समाज विज्ञान के अध्येताओं को विचलित करेंगे। इनमें से कुछ हादसों के तह तक पहुंचने की एक कोशिश की जानी चाहिए। अख़बार सिर्फ सूचना देते हैं, हादसों का विश्लेषण करने में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं होती ।


SHOCKING SATURDAY

Mum flings 6-yr-old, jumps off building

EASON FOR SUICIDE Her parents point to family trouble; husband, in-laws held

PAST INCIDENTS

चार्टर्ड अकाउंटेंट और मलाड के पोद्दार कॉलेज की शिक्षिका निधि गुप्ता के मित्रों, परिचितों और परिवार के सदस्यों ने बयान दिया कि निधि गुप्ता कभी अपनी घरेलू समस्याओं से परेशान दिखाई नहीं देती थी , वह बिल्कुल 'नॉर्मल' थी, अवसाद के कोई निशान उसके चेहरे पर नहीं थे। गुप्ता परिवार के फ्लैट से कभी लड़ने-झगड़ने की आवाज़ें नहीं आईं। दो बेडरूम के फ्लैट में वे दो भाई–जिसमें से एक की शादी नहीं हुई थी और एक बहन-बहनोई अपने माता पिता के साथ रहते थे। निधि गुप्ता के ससुरालवालों ने यही बयान दिया कि 'सबकुछ ठीक था', 'परिवार में कोई तनाव नहीं था' और 'वे निधि के अपने दो छोटे बच्चों को मारकर खुद आत्महत्या करने के ऐसे भयावह निर्णय के पीछे कोई कारण तलाश पाने में असमर्थ हैं' यह एक अप्रत्याशित कदम था और कोई नहीं जानता कि उसने ऐसा क्यों किया। लेकिन सतह पर सबकुछ सही और ठीक दिखते हुए भी भीतर कितनी उथल-पुथल छिपाए रहता है, यह कोई समझ पाने की कोशिश भी नहीं करता। यह जानते हुए भी कि निधि गुप्ता ने अपनी शादी की सालगिरह की तारीख से एक दिन पहले अपने और अपने दोनों बच्चों के जीवन का अंत करने का निर्णय लिया, अख़बारों में तीन दिन तक पहले पृष्ठ पर प्रमुखता से यही आता रहा कि उसने न अपने माता-पिता से, न मित्रों से कभी अपने अवसाद की बात की।

शादी की सालगिरह से पहले यह निर्णय लेना स्पष्टता से यह तो बताता ही है कि सतह पर सामान्य दिखते रिश्तों की गहरी दरारों को ऊपर से ढके रहना मुश्किल नहीं होता। आम तौर पर हर लड़की ऊपर से मुस्कुराहट बिखेरते हुए भी अपने भीतर का झंझावात छिपाए रखती है। जीवनसाथी की अपने प्रति निर्मम उपेक्षा या भावनात्मक हिंसा को अपने भीतर जज़्ब करते हुए वह अपने पड़ोसियों या कार्यस्थल के मित्रों के साथ बातें करने में, अपने को अपने केरियर के लिए पढ़ाई में व्यस्त रखने में, बच्चों की देखभाल में या उनके स्कूल का होमवर्क कराने में, घर गृहस्थी के अंतहीन कामों में अपने को खपा डालती है। कोई भी मध्यवर्गीय स्त्री, खासतौर पर दो बच्चों की मां, अपने परिचितों और मित्रों से अपनी घरेलू निजी त्रासदियों का बखान करना पसंद नहीं करती। वह यही सोचती है कि अपनी समस्याओं का हल वह ढूंढ ही लेगी। अपने परिवेश के बढ़ते हुए दबाव को महसूस करते हुए भी वे इसे अपने भीतर ही छिपा कर रखना चाहती है। अधिकांश महिलाओं के साथ यही होता है कि वे इसे सभी महिलाओं के जीवन की औसत त्रासदी समझती हैं और अपने मां-बाप से इस तकलीफ़ को बांटकर उनके दुख को और बढ़ाना नहीं चाहतीं। एक अलिखित आचारसंहिता उन्हें रोकती है जिसके तहत वे सोचती हैं कि मां-बाप की ज़िम्मेदारी उन्हें पढ़ा-लिखा कर अपने पैरों पर खड़े होने की कूवत देने और अपनी मर्ज़ी के लड़के से ब्याह करने की इजाज़त देने के बाद समाप्त हो जाती है और शादी के बाद की सारी समस्याओं से अब उन्हें अकेले ही निबटना है।

आज भी आम मध्यवर्ग की एक सामान्य लड़की अपना शत-प्रतिशत दे देती है । शादी के बाद घर-परिवार, पति-बच्चे उसकी पहली प्राथमिकता होती है–आम तौर पर उसका अपना केरियर, अपनी महत्वाकांक्षाएं दूसरे नम्बर पर आती हैं पर उसकी इस प्राथमिकता और भावात्मक लगाव पर लगातार चोट की जाती है । ससुराल के अन्य सदस्य तो एक तरह से दुश्मन के ख़ेमे में तैनात हो ही लेते हैं, अक्सर पति भी नव विवाहिता पत्नी का साथ छोड़कर अपने घर के सदस्यों का साथ देने लगता है। यह लड़की पर दोहरी चोट होती है। वह ससुराल के सदस्यों के प्रेम की हक़दार नहीं बनती। अपने मां-बाप के साथ अपनी इस त्रासदी को बांटकर वह उन्हें दुखी नहीं करना चाहती। आपसी संबंधों में भावनात्मक खाई और संवेदना का टकराव असंवेदनशीलता उन्हें तोड़ता है। अगर वह अपने ही भीतर एक ऊर्जा, एक संबल पैदा करने में असमर्थ रहती है तो उसके भीतर अवसाद की जड़ें इतने गहरे तक पैठ जाती हैं कि बहुत दिनों तक भीतर एक झंझावात झेलते हुए और बाहर से एक खुशनुमा आवरण ओढ़ते हुए वह अंदर ही अंदर छीजती चली जाती है। ऐसी ही लड़कियों को एक चरम स्थिति (डेपरेशन) में अपना और अपने बच्चों के जीवन का अंत करना ही एकमात्र हल दिखाई देता है।

आई.आई.टी. कानपुर की स्नातक और एम.बी.ए. निधि सिंह के पति ने बताया कि काम पर जाने से पहले निधि ने पति से मिन्नत की कि वह दस मिनट के लिए उससे बात करे और तब जाए। वह कुछ देर रुका भी पर उसे ऑफ़िस के लिए देर हो रही थी। ऑफ़िस जाने के कुछ देर बाद उसे एक एस.एम.एस. मिला–'सॉरी' उसने इसे गंभीरता से नहीं लिया और उसने

नहीं सोचा था कि निधि अपने जीवन का अंत करने जा रही है। सिर्फ सात महीने पहले फरवरी में उनकी शादी हुई थी। निधि ने शादी के बाद अपनी नौकरी छोड़ दी थी और वे चार महीने पहले ही इस नए घर में शिफ्ट हुए थे।

आत्महत्या के निर्णय से पहले 'सहारे की ललक' और 'बचाव की चीख़' (क्राई फॉर हेल्प) हमेशा दिखाई देती है। निधि सिंह का अपने पति को बात करने के लिए बार-बार रोकना इसी चीख़ के अंश है, आमतौर पर जिसे अनसुना कर दिया जाता है। निधि गुप्ता जालान और दीप्ति सावंत परमार के साथ भी यही स्थिति थी। दोनों ही अपने माता-पिता को संकेत दे रही थीं कि वे एक दबाव और तनाव में जी रही हैं । घटना के बाद भी वे इन संकेतों को नकारते हैं। इन्हें कोई गंभीरता से नहीं लेता–यह कहकर कि यह तो सभी के साथ होता है और बीत जाता है। सारी स्थिति एडजस्टमेंट की है और यही एक घुट्टी है जिसे हर मां-बाप अपनी बेटी की शादी में पोटली में बांधकर थमा देते हैं कि तालमेल बिठाकर रहना सीख लेना। शादी के बाद बेटी की दबी-दबी-सी शिकायत पर ध्यान न देकर यही कहा जाता है कि आज की लड़कियों में सहनशीलता की बहुत कमी है। आज के समय की सबसे बड़ी विडंबना यह है कि आज भी अपने आत्मसम्मान को पीछे धकेलकर उसी धैर्य और सहन करने की अपेक्षा उससे की जाती है जो सदियों तक स्त्री का विकल्पहीनता की स्थिति में एकमात्र चुनाव रहा है ।

निधि गुप्ता को शादी के बाद नौकरी छोड़ने के लिए कहा गया क्योंकि बच्चे छोटे थे और उनकी देखभाल करने को सास या ननद तैयार नहीं थीं। उसने नौकरी छोड़ दी। बाद में उससे कहा गया कि उसके पति के व्यवसाय में मंदी आ गई है तो उसे नौकरी फिर कर लेनी चाहिए। उसने सर्राफ कॉलेज में पार्ट टाइम नौकरी कर ली। संयुक्त परिवार होने के कारण उसे अपने रोज़मर्रा के ख़र्च के लिए अपने पति या बड़ी ननद के आगे हाथ फैलाने पड़ते थे। जिस दिन उसने यह कदम उठाया, उस दिन की घटना थी कि उसके छह साल के बेटे को स्कूल की किसी पिकनिक के लिए सौ रुपये चाहिए थे। उसने हमेशा की तरह बूआ से पैसे मांगे और बूआ ने नहीं दिए। बेटा रुआंसा हो गया। दोनों बच्चों को टिफ़िन और पानी की बोतल और स्कूल के बस्ते से लैस निधि अपने निवास के नौवें माले से स्कूल के लिए तैयार बच्चों को लेकर निकली और लिफ़्ट से नीचे जाने के बजाय लिफ़्ट को ऊपर उन्नीसवें माले के रिफ्यूज़ एरिया में ले गई जहां से उसने तीन ज़िंदगियों का अंत किया। संयुक्त परिवार के नकारात्मक पक्ष यहां एक बड़ा रोल निभाते हैं जहां एक पढ़ी-लिखी लड़की का भी अपनी कमाई पर अधिकार नहीं होता और जिसे परंपरा के वर्चस्व तले एक तयशुदा रूप से ससुराल के अन्य सदस्य परिचालित करना चाहते हैं और पति इसमें या तो मूक इकाई की भूमिका निभाता है या अपने घर के सदस्यों का साथ देता है, जो अपना घर-परिवार छोड़कर आई लड़की को अपने पैर तले की ज़मीन को और कमज़ोर कर देता है। जो घर वह छोड़कर आई है, वह उसे विदा कर अपनी ज़िम्मेदारियों से मुक्त हो लेता है और जिसे वह अपना घर समझती है, वह भी उसका हो नहीं पाता। ऐसे में भवनात्मक असुरक्षा उसे निपट अकेला कर देती है और घर के नाम पर उसके सामने एक शून्य होता है।

कुछ और मामले

28 जून 2010 को सभी अख़बारों में निशि जेठवानी (सोनी) की आत्महत्या की ख़बर थी जिसने मुंबई के एक उपनगर मुलुंड की बहुमंज़िला इमारत रुनवाल प्राइड के 27 वें माले से कूदकर आत्महत्या कर ली। मध्यवर्ग से आई निशि सोनी एक प्रमुख शेयर कंपनी में कार्यरत थी जहां उसकी पहचान रईस परिवार के जितेन्द्र जेठवानी से हुई। उससे शादी की एक अनिवार्य शर्त थी कि वह अपनी नौकरी छोड़ देगी। उसके प्रेमविवाह को सिर्फ तेरह महीने हुए थे। शादी के कुछ महीनों बाद ही उससे नौकरानियों जैसा व्यवहार किया जाने लगा। घर के सारे काम उस पर लाद दिए गए। उसके खाने पर भी पाबंदी थी और उसे ससुराल के सदस्यों द्वारा पीटा भी जाने लगा। इसके विरोध में वह अढ़ाई महीने अपने मायके रही जहां उसे 'अपने' घर से तालमेल बिठाकर रहने का सबक देकर फिर वापस भेज दिया गया। पति के आश्वासन पर उसे भी लगा कि स्थितियां सुधर जाएंगी लेकिन यह उसका भ्रम था। अपनी आर्थिक स्वतंत्रता खोकर उसे विपरीत परिस्थितियों में फिर झोंक दिया गया और उसका दर्जा एक नौकरानी से बेहतर नहीं था। अब सत्ताइसवें माले से कूदकर अपने जीवन की सारी यातनाओं से मुक्त होने का उसे एकमात्र यही विकल्प दिखाई दिया। उसने अपने माता-पिता की इच्छा के ख़िलाफ़ जाकर एक रईस ख़ानदान के लड़के से प्रेम विवाह करके बग़ावत की थी और अपने को सज़ा देने का यही तरीक़ा उसे दिखाई दिया।

ऐसा ही एक केस था आकांक्षा का पर उसने मज़बूती से स्थितियों को बदलने का हौसला दिखाया। लखनऊ की यह लड़की संस्कृत और मनोविज्ञान से एम.ए. करने के बाद एक जूनियर कॉलेज में पढ़ा रही थी। हॉस्टल में रहती थी। उसे नाटकों में अभिनय का शौक था। एक नाटक के दौरान उसकी मुलाकात अपने अभिनय के प्रशंसक एक बंगाली लड़के से हुई। घर से भाग कर उसने शादी की। आकांक्षा के घरवालों ने उससे रिश्ता तोड़ अपने घर के दरवाज़े उसके लिए बंद कर दिए। शादी के बाद सात साल तक वह अपने पति के साथ दिल्ली, आबूधाबी और दोहा जैसी जगहों में उसकी नौकरी के साथ-साथ घूमती रही। एक बेटी भी पैदा हो गई। जब उनका ट्रांसफ़र मुंबई में हुआ तो उसने एक नाटक में अभिनय के लिए हामी भर दी। पति ने न सिर्फ नाटक करने के लिए मना किया बल्कि यह अल्टीमेटम भी थमा दिया कि नाटक में काम करने के बारे में उसने फिर सोचा भी तो वह शादी तोड़ देगा। मानसिक रूप से पूरी तरह ध्वस्त आकांक्षा हमारे पास आई–इस दृढ़ निश्चय के साथ कि वह आत्महत्या करने से पहले अपनी बेटी को पहले ख़त्म करेगी क्योंकि वह नहीं चाहती कि वह सौतेली मां के हाथों प्रताड़ित हो और उसके पापा में इतनी कूवत नहीं है कि वे उसे पनपने के लिए एक स्वस्थ माहौल दें। उसे हताश होकर दो ज़िंदगियां ख़त्म करने की जगह हौसला बुलंद रखने के लिए कहा गया। अब उसकी एक और बेटी है। दोनों को साथ लेकर वह नाटक देखने जाती है। स्कूल में नौकरी भी करती है और बड़ी बेटी के स्कूल के लिए नाटक का निर्देशन कर रही है जिसमें दोनों मां-बेटी हिस्सा ले रही हैं। क्या किसी भी लड़की के विवाह को बचाने के लिए यह शर्त होनी चाहिए कि वह अपनी सारी रचनात्मक प्रतिभा को समूल नष्ट कर दे। अगर इसी शर्त पर विवाह को बचाना है तो आकांक्षा कहती है–"मुझे भी निर्णय लेने का हक है कि मैं दोनों बच्चों की सारी ज़िम्मेदारी उठाने के बाद अपनी रचनात्मकता और प्रतिभा को कैसे बचाए रखूं। आख़िर पति जीवन के हर मोड़ पर अपनी ही शर्तें डिक्टेट नहीं कर सकता।"

.... और इस तरह के मामले तो असंख्य हैं जहां एक स्त्री अपनी मित्र या पड़ोसी से भी अपनी यातना को शेयर नहीं करती। मैं मुंबई के बांद्रा इलाके के अपने निवास पर अपनी पड़ोसी स्वाति खन्ना को भूल नहीं सकती जो मुझे रोज़ सुबह की सैर के वक्त मिलती थी और जिनके साथ मैं कभी-कभी 'हेल्प' में काउंसिलिंग के लिए आई प्रताड़ित महिलाओं के मामलों के बारे

में बात किया करती थी। वे हमेशा यही कहतीं कि यह तो घर-घर का किस्सा है, सबके साथ होता है। पर उन्होंने कभी अपने बारे में कुछ नहीं बताया। नौ साल वहां रहने के बाद, अचानक एक रात मुझे एक दूसरी पड़ोसन ने रात के बारह बजे बुलाया। बचाओ-बचाओ की भयावह चीख़ें नीचे तक पहुंच रही थीं। पता चला–स्वाति लगातार 33 सालों तक अपने पति की हिंसा का शिकार हो रही थी। स्वाति उस पीढ़ी की थी जो अपने सम्मान को अपने पति के सम्मान के साथ जोड़कर देखती हैं और सिर्फ तब अपने मुंह से चीख़ें बाहर आने देती हैं जब उम्र के साथ कमज़ोर होती उनकी देह मारपीट झेलने के लायक नहीं रह जाती ।

आज भी मध्यवर्ग की लड़कियां अगर कहती नहीं तो इसका अर्थ यह नहीं कि वे सहती नहीं। होता सिर्फ यह है कि कभी-न-कभी उनके शॉक एब्ज़ॉर्बर्स बिल्कुल फेल हो जाते हैं और अपने सामने एक डेड एंड पाने के बाद ही वे 'बचाव के लिए चीख़' का इस्तेमाल करती हैं। अचानक एक दिन आत्महत्या के ख़याल का दौरा पड़ने पर कोई इतना बड़ा कदम नहीं उठा लेता इसलिए इन उठती हुई छोटी-छोटी कराहों और चीख़ों को पहचानना ज़रूरी है।

ज़ाहिर है, हमारे समाज में जो बदलाव हमें दिखाई दे रहे हैं , वे बहुत ऊपरी हैं । कहीं आज भी हम स्त्रियों को उनका अपेक्षित सम्मान नहीं दिला पा रहे हैं और न ही उनके लिए परिवार और समाज की ओर से वह सपोर्ट सिस्टम तैयार कर पा रहे हैं जो उन्हें जीवन की विसंगतियों से, असुविधाओं और कठिन परिस्थितियों से जूझने के रास्ते मुहैया करवा सके। शिक्षित करके हमने उन्हें अर्थ उपार्जन का रास्ता तो दिखा दिया, आत्मनिर्भर बनाकर उन्हें अपने पैरों पर खड़ा भी कर दिया, पर हम उन्हें जीवन जीने की कला, विपरीत परिस्थितियों से जूझने का तरीका, अपने लिए एक दरवाज़ा खुला रखने का ढब नहीं सिखा पाए। आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर स्त्रियां भी भावनात्मक रूप से अपने पति का ही मुंह जोहती रहीं । भावनात्मक आघात ही अपने जीवन का अंत करने पर उन्हें विवश करते हैं।

सबसे पहले तो हमें इस भ्रांति को तोड़ना होगा कि साहित्य से कोई सामाजिक क्रांति आ सकती है। इसके लिए दृश्य मीडिया एक ज्यादा असरकारक औज़ार हो सकता था पर दृश्य मीडिया को 'चिकनी चमेली' और 'शीला की जवानी' के प्रदर्शन से ही फ़ुर्सत नहीं है। साहित्य की पहुंच बहुत सीमित है। इसे आज के समय में हम क्रांति का औज़ार नहीं मान सकते। यह जरूर है कि ऐसी स्थितियां हमारे मानस को झकझोरती हैं , तो हम अपनी कलम के ज़रिये एक बदलाव लाना चाहते हैं । परिवर्तन की प्रक्रिया को तेज़ करना चाहते हैं। जरूरत है, समाज की मानसिकता बदलने की। सामाजिक सरोकार रखने वाला हर रचनाकार अपनी-अपनी तरह से यह कोशिश जरूर करता है कि बुनियादी कुरीतियां हटे, समाज में स्त्रियों के लिए सम्मान से जीने लायक एक माहौल बने पर यह संभव हो पाता है क्या? ऑनर किलिंग में इतने खूबसूरत युवा जोड़ों को प्रेम में पड़ने के कारण उनके जीने के हक़ से ही बेरहमी से बेदख़ल कर दिया जाता है। इनके ख़िलाफ़ हम एक सख़्त कानून तक नहीं बना पाते। बनाते भी हैं तो उसे अमल में नहीं ला पाते। ऐसे में कुरीतियों को जड़ से उखाड़ पाने और बदलाव लाने की प्रक्रिया लंबी है ।

क्या यह सच नहीं कि हमने लड़कियों को पैसा कमाकर अपने पांव पर खड़ा होना तो सिखाया पर दकियानूसी सोच से मुठभेड़ करने के कारगर तरीके नहीं समझा पाए। ज़रूरी है कि इन कारगर तरीकों को कॉलेज और उच्च शिक्षा संस्थानों के पाठ्यक्रम का एक ज़रूरी हिस्सा बनाया जाए ! तभी समाज में माता-पिता, पति और उसके घर के लोगों की सोच में बदलाव आएगा और इन शिक्षित लड़कियों के जीने की लड़ाई कुछ आसान हो जाएगी।

विवाह संस्था ऑब्सोलीट हो रही है, विवाह संस्था को खत्म करना चाहिए की जगह क्या हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि विवाह संस्था में सुधार की ज़रूरत है? सुधार कहां और कैसे? ज़ाहिर है, जब परिस्थितियां बदल गई हैं तो व्यक्ति को उन परिस्थितियों के अनुरूप बदलना ही होगा। जब स्त्रियां भी बाहर जाकर पति के बराबर या उससे ज़्यादा भी कमा रही हैं तो फिर बच्चों की, रसोई की पूरी ज़िम्मेदारी आज भी सिर्फ़ स्त्री के खाते में क्यों हो? जेंडर डिवीज़न ऑफ लेबर के खांचे टूटे हैं तो उन्हें बाहर की स्पेस में ही नहीं, घर की चहारदीवारी में भी टूटना होगा। क्यों बच्चों के स्कूल में पेरेंट्स-टीचर मीट में हमेशा मां ही जाए, पिता क्यों नहीं? बच्चे पिता की भी उतनी ही बड़ी ज़िम्मेदारी हैं जितनी मां की। मां का बच्चे को अपनी कोख में नौ महीने रखना और प्रसव पीड़ा से गुज़रने का मतलब यह क़तई नहीं है कि बच्चे के स्कूल का होमवर्क देखने से लेकर उसके कैरियर, उसकी परवरिश का पूरा ज़िम्मा सिर्फ़ मां का ही है, पिता का नहीं। अगर बच्चा बड़ा होकर अच्छी नौकरी में जाता है तो श्रेय पिता को मिलता है कि आख़िर बेटा किसका है और अगर बुरी संगत में पड़ता है तो मां की परवरिश में दोष ढूंढा जाता है।

विवाह से पहले बेशक एक लड़की अपने होने वाले पति के साथ चार-पांच साल की कोर्टशिप कर ले पर पति का असली चेहरा विवाह के बाद ही सामने आता है, जब विवाह के पंजीकृत होते ही वह अपनी पत्नी पर मालिकाना हक़ जताने लगता है। जैसे कोई आदमी अपने लिए मकान खरीदता है और मकान के मालिकाना हक़ के कानूनी कागज़ातों पर दस्तख़त करने के बाद, मकान हाथ में आते ही शुरू में तो वह उसे प्यार-संभाल से रखता है, पर कुछ समय बीत जाने के बाद वह दीवारों पर जहां-तहां कील ठोकता है और सामान की इधर-उधर उठा-पटक शुरू कर देता है। मकान पर उसकी मिल्कियत है तो वह दीवारों और फर्नीचर के साथ मनमाना सुलूक करता है। एक पत्नी के साथ भी यही व्यवहार किया जाता है। उसे तो कई बार शुरुआती साज संभाल भी नहीं मिलती। अपने नाम का सिंदूर भरने के साथ-साथ उसका प्रेमी पति उसके साथ ज़रखरीद गुलाम का-सा सुलूक करने लगता है। पुराने समय में विकल्पहीनता की स्थिति में हर तरह का सुलूक एक ब्याहता पत्नी के लिए शिरोधार्य होता था। आज एक मध्यवर्गीय शिक्षित आत्मनिर्भर लड़की, प्रेम विवाह के बाद, माता पिता का सपोर्ट सिस्टम न होने के कारण भावात्मक उपेक्षा से बिखर जाती है क्योंकि एक ओर वह संस्कारों से बंधी है, दूसरी ओर घर और बाहर की दोहरी ज़िम्मेदारी के बावजूद अपने सदियों पुराने दोयम दर्जे में वह कोई तब्दीली नहीं पाती।

आख़िर रास्ता कहां है ?

अगर मध्यवर्गीय तबका अपनी बेटियों को जीवन के कई मोड़ों पर चुप्पी के संस्कारों को तोड़कर ज़बान खोलने और अपनी तकलीफ को साझा करने का रास्ता सुझाए तो ऐसी त्रासदियों को रोका जा सकता है!

- हर शिक्षित और आत्मनिर्भर लड़की को यातना के चरम पर भी यह संदेश जाना चाहिए कि हर जटिल स्थिति का विकल्प है और जीने की आशा मद्धिम नहीं हुई है। यह हर महिला की ज़िम्मेदारी है ।
- इस संदेश को पहुंचाने की पहली ज़िम्मेदारी अभिभावकों की है। एक बेहद स्पष्ट और मुखर संदेश बेटियों तक संप्रेषित होना चाहिए कि शादी के

पृष्ठ 55 पर जारी

मुक्तिबोध काव्य में नारी

सुधा मौर्य

नारी ईश्वर की सर्वोत्कृष्ट कृति, 'मनसा-वाचा-कर्मणा' का प्रतिरूप, सृष्टि का उद्गम स्रोत एवं जीवनरूपी द्विपाद-चक्र-वाहिनी का एक सुदृढ़ पहिया है। संपूर्ण भारतीय समाज 'यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रमंते तत्र देवता' की अवधारणा से स्पंदित, ममता, करुणा, त्याग, प्रेम एवं समर्पण की अधिष्ठात्री नारी की भूमिका सदा ही अविस्मरणीय रही है। नारी की बहुमुखी योग्यता के बावजूद हमारे पुरुषवादी समाज के मिथ्याभिमान ने उसे उचित सम्मान नहीं दिया, प्रत्युत् हमेशा ही 'दोयम दर्जे' का व्यवहार कर उसे भोग्या मानकर अपनी संकीर्ण मानसिकता का परिचय दिया। वस्तुतः वैश्विक मानव उद्भव का आधार प्रकृति व पुरुष का संयोग रहा है। भारतीय मनीषियों की अभिकल्पना में जो नारी प्रकृति की संपूर्ण व्यापकता में पाई जाती है, उसी को विश्व सभ्यता में सीमांत पर धकेलकर विकास की मंज़िल को पाना कठिन ही नहीं वरन् असंभव बना दिया गया है। विश्व समाज का अर्धांश यदि अपेक्षित रहेगा तो उस समाज की प्रगति हमेशा ही अवरुद्ध बनी रहेगी। इसी कारण कवि गजानन माधव मुक्तिबोध ने 'सर्वहारा' अर्थात् 'समाज में सभी प्रकार से हारे' मनुष्यों की अंतरात्मा, जिसमें 'अबला' नारी भी सम्मिलित है, को भी अपने काव्य में चित्रित किया। उनकी नारी-विषयक धारणा मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित सामान्य भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित है।

> *मुक्तिबोध नारी को सीमित परिधियों से निकालकर एक विस्तृत धरातल पर प्रतिष्ठित होने की ओर इंगित करते हैं। वह चाहते हैं कि नारी अपने शोषण के प्रति स्वयं सजग हो, उठ खड़ी हो–शोषण तंत्र के ख़िलाफ़ वह एकजुट होकर विद्रोह कर अपनी महामुक्ति का विश्व निनाद कर दे।*

यद्यपि मुक्तिबोध ने नारी-विषयक कविता नहीं लिखी, तथापि अपने काव्य में नारी को स्पष्टतः तीन रूपों–आदर्शवादी, यथार्थवादी एवं भोगवादी में प्रस्तुत किया है। आदर्शवादी दृष्टिकोण से मुक्तिबोध की नारी मातृत्व के मंगलकारी पुनीत पक्ष से स्पंदित, ममता-शुचिता-प्रेरणा की साकार मूर्ति, त्याग की तरंगिनी और आनंद की सृष्टि करने वाली है। यथार्थवादी रूप में नारी समाज की मुख्यधारा से अलग, उपेक्षित, उत्पीड़ित, असहाय प्राणी है। भोगवादी दृष्टि ने नारी को उस प्रेयसी के रूप में देखा, जिसमें वह सौंदर्य का प्रतीक है। निश्चय ही नारी के प्रति एक तीव्र आकर्षण मुक्तिबोध के अंतर्मन में था। विश्व सुंदरी के बाह्य सौंदर्य वर्णन में उनकी नारी भावना अनुभूति गांभीर्य से संपन्न है–

सद्य स्नात प्रेयसी विश्व की/ उतरी पहन चंद्र झीना पट
उलस-उलस पड़ती है उसके/ शिथिल कुंतलों की कोमल लट
वह फूलों को चूम तारिका के/ कानों में कहती कुछ निज।

नारी को 'असीम गगन' और स्वयं को 'विस्तृत धरा' कहता हुआ कवि उसे संपूर्ण जीवन को आलोकित करने वाली रंगीली इंद्रधनुष के रूप में पाता है–

जीवन के काले मेघों पर/इंद्रधनुष-सी मैं स्मितशालिनि
x x x
वह मृदु नयनों वाली बाला/अंतर्वन में विचर रही है
तब कमज़ोर हृदय का शोषित/निज अंचल से नित्य पोंछती
तेरे सुख में हंसने वाली/ तेरे सुख को नित्य सोचती।

नारी और पुरुष जीवन के दो मार्ग हैं, जो स्नेह के बंधन से आबद्ध एक छोर है। कवि उनको एक-दूसरे के समानांतर मानता हुआ नारी को अपने निज व्यक्तित्व की सिंधु कहता है, जो उसमें समाहित है–

तुम हो शुद्ध, मेरी मित्त,
मेरे प्राण की तुम चित्त
x x x
लेकिन मार्ग दो, दो ओर
फिर भी बांधता है छोर
उनको स्नेह का अविनीत।
तुम मेरे निजत्व अबंध
मम व्यक्तित्व की तुम सिंधु–
x x x
मेरे प्राण की आलोक

पुरुष-नारी संबंध को जोड़ने का सर्वाधिक मर्यादित व आदर्श रूप पति-पत्नी का रूप है। नारी पुरुष हेतु प्रेरणा, स्फूर्ति, पूर्ति का अजस्त्र स्रोत है। नारी की भी पूर्णता उसके पत्नीत्व में होती है। गृहस्थी के कठोर कर्त्तव्य को पत्नी अपना मुक्त समर्पण दे सरस बनाती है। पत्नी रूप में नारी के हृदय की कोमलता और पति कल्याण की कामना मर्मस्पर्शी है। प्राणप्रिय पति के युद्धभूमि पर जाने पर वह अत्यंत करुणार्द्र हो उसकी मंगलकामना में प्रार्थनारत चिंताकुल हो उठती है, उसका मन अनेक आशंकाओं से विदीर्ण हो उठता है–

उसी दिन, उसी दिन अकस्मात्
मेरी दीन असहाय
पड़ोसिन निर्मला का जिया घबराया था
आंखों में आंसू भर आए थे
युद्ध में गए हुए प्राण-पति मित्र की
भयानक चिंता ने
मन भरमाया था।

यहां ग़ौर करने की बात यह है कि क्रमशः ऊपर की दोनों ही काव्य-पंक्तियों में मुक्तिबोध ने नारी-पुरुष को 'मित्त' रूप में चित्रित कर उस मिथ्या सोच पर आघात किया है, जो यह मानता है कि नारी सिर्फ़ और सिर्फ़ पुरुष की चरण बंदिनी है। यहां मुक्तिबोध स्पष्टतः नारी और पुरुष को बराबरी का दर्जा देते हुए दिखाई देते हैं।

ईश्वर का प्रतिरूप 'मां' वह उत्प्रेरण शक्ति है, जो सदा जीवन को गति-दिशा प्रदान करती है। वह प्रथ प्रदर्शिका, शक्ति-ऊर्जा पुंज, विश्व कल्याण की धारणा से समन्वित गहन वृक्ष सदृश है, जिसकी छाया तले जीवन की समस्त क्लान्ति नष्ट हो जाती है। कवि मुक्तिबोध 'एक अंतर्कथा' शीर्षक कविता में अग्निकाष्ठ खोजती हुई नारी का अंकन कर मां के इसी स्वरूप को उद्घाटित करते हैं–

अग्नि के काष्ठ/ खोजती मां
बीनती नित्य सूखे डंठल
x x x
वह जीर्ण-नील-वस्त्रा/ है अस्थि-दृढ़ा
गतिमती व्यक्तिमत्ता/ कर रहा अध्ययन मैं उसकी मज़बूती का
उसके जीवन से लगे हुए
वर्षा-गरमी-सर्दी और क्षुधा-तृषा के वर्षों से
x x x
बरगद के तने-सरीखी वह अत्यंत कठिन
दृढ़ पीठ अग्रयायी मां की
युग-युग अनुभव का नेतृत्व / आगे-आगे, मैं अनुगत हूं।

नारी के भोग्या रूप से आगे बढ़कर उसके प्रसविनी और जननी रूप का वर्णन उसकी परिधि के विस्तार का द्योतक है। वह निम्नवर्गीय कृशकाय श्रमशीला गर्भवती नारी के रूप में चित्रित भारतीय नारी के त्यागपूर्ण आत्मसमर्पण का प्रतिनिधित्व करती है, जो हम अपने अड़ोस-पड़ोस के गली-मुहल्लों में कहीं भी देख सकते हैं–

आंखों में तैरता है चित्र एक
उर में संभाले दर्द
गर्भवती नारी का
कि जो पानी भरती है वज़नदार घड़ों से,
कपड़ों को धोती है भाड़-भाड़,
घर के काम बाहर के काम सब करती है,
अपनी सारी थकान के बावजूद।
मज़दूरी करती है, घर की गिरस्ती के लिए ही
पुत्रों के भविष्य के लिए सब।

कवि मुक्तिबोध के काव्य में शोषित-उत्पीड़ित नारी की विवशता और प्रतिरोध न कर सकने की असहायता का भी यर्थाथपरक चित्रण हुआ है। युग-युग से पददलित नारी अपने अस्तित्व–अपने सम्मान को बचाने में भी असमर्थ है। वह शोषण तंत्र के चक्र में निरंतर छली जाती है। सामान्य नारी की बात तो छोड़िए पागल स्त्री का असामर्थ्य भी छला जाता है–

वह पागल युवती सोयी है
मैली दरिद्र स्त्री अस्त-व्यस्त–
उसके बिखरे हैं बाल व स्तन है लटका-सा,
अनगिनत वासना-ग्रस्तों का मन अटका था!
उनमें जो उच्छृंखल था, विशृंखल भी था,
उसने काले पल में इस स्त्री को गर्भ दिया!

नारी केवल घर के बाहर ही उत्पीड़ित नहीं होती, अपितु घर के अंदर भी वह अत्याचार-उत्पीड़न का शिकार होती है। वह अपने हृदय की विपुल निधि द्वारा अपने जीवन को पुरुष के चरणों में निःशेष रूप से समर्पित कर देती है। वह प्रत्येक दृष्टि से 'अर्द्ध' होते हुए भी पुरुष जीवन के अधूरेपन को पूर्ण करने में समर्थ होती है। लेकिन फिर भी उसका जीवन तमिस्त्र (अंधेरी रात) के समान है। उसका स्वतंत्र अस्तित्व परिवार की चहारदीवारी में क़ैद होकर मात्र पाशविक प्रतिबंधों–अत्याचारों को सहने हेतु विवश है। कवि मुक्तिबोध की 'किसी से' शीर्षक संपूर्ण कविता नारी के इसी गहन दुख को उकेरती है और नारी जाति के अभ्युत्थान की मंगलकामना से पूर्ण है। नारी मात्र पुरुष वर्ग द्वारा ही प्रताड़ित नहीं होती बल्कि नारी द्वारा नारी पर शोषण भी हमारे समाज की बर्बरता, वास्तविकता को बरबस उद्घाटित करता है–

सामंती घराने की जागीरदार
बूढ़ी-सी सास ज्यों
स्वयं पिशाचिनी का प्रचंड रूप ले
विद्रोहिणी विधवा निज बहू की पीटी गई
पीठ पर बैठकर/ ज़बरदस्त हाथ में/
गरम-गरम लोहे की शलाका ले / पीठ दागती है,...

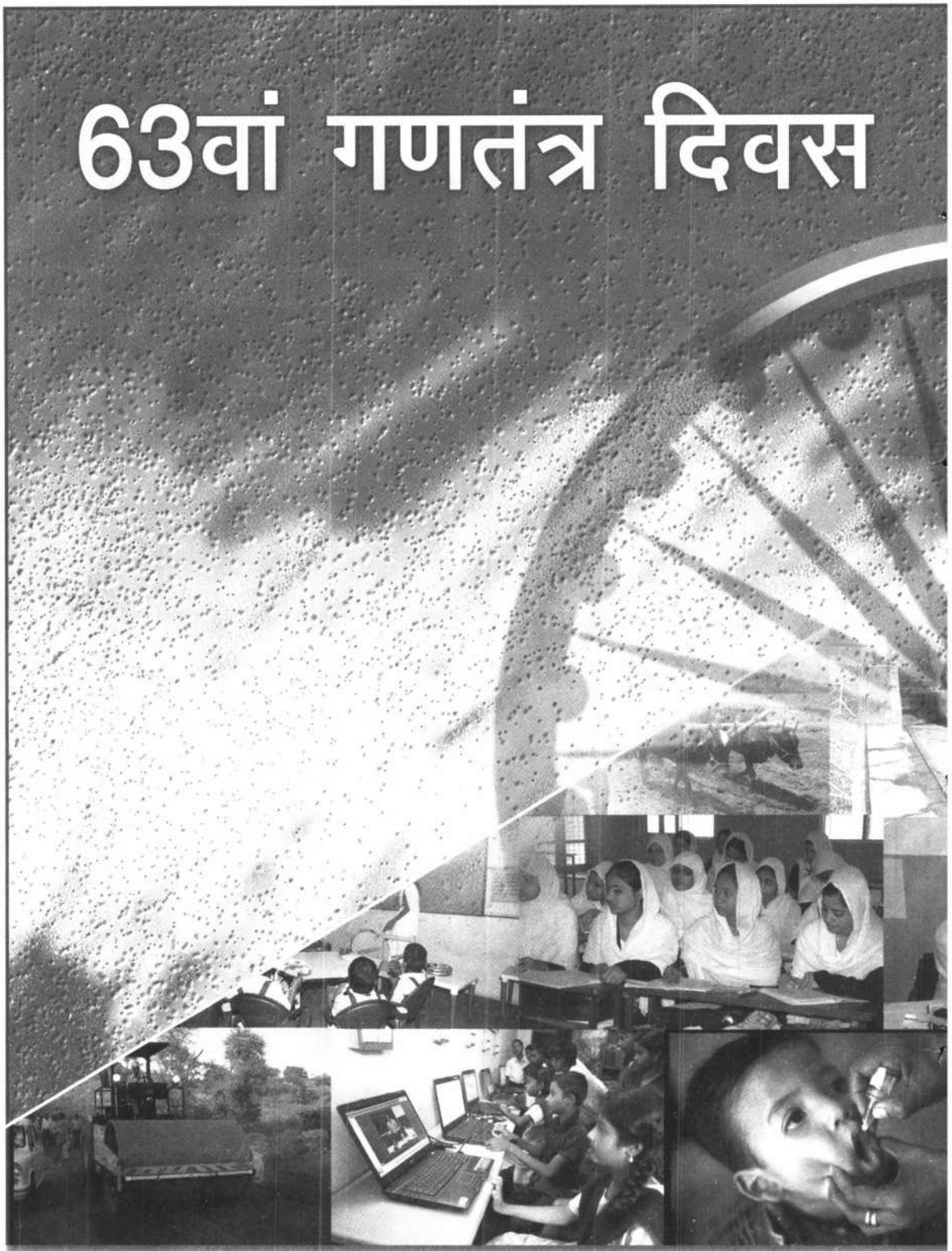
मुक्तिबोध नारी को सीमित परिधियों से निकालकर एक विस्तृत धरातल पर प्रतिष्ठित होने की ओर इंगित करते हैं। वह चाहते हैं कि नारी अपने शोषण के प्रति स्वयं सजग हो, उठ खड़ी हो–शोषण तंत्र के ख़िलाफ़ वह एकजुट होकर विद्रोह कर अपनी महामुक्ति का विश्व निनाद कर दें। नारी को 'अबला' से 'सबला' मानते हुए कवि जनसंघर्ष में उदात्त आस्था रखता है और नारी को युगों के पाशविक प्रतिबंधों, जड़-मर्यादा के झूठे बंधनों से मुक्त होने का आह्वान करता है–

त्यागो, हे शुचिकीर्ति/ व्यथा के गहरे जाले/ काले चिंता-गीत
x x x
ओ गृह-गृह की ज्योति/ न हो उद्विग्ना मलिना
री, जीवन की स्फूर्ति/ कि गहरा कुआं न बनना
चूंकि सर्वाधिक त्रस्त/ दबाई गई तुम्हीं हो
धरो क्रांति का हस्त/ कि तुम जन-पथ में आओ
x x x
बोलो तुम कि सहास/ करोगी प्रयास कितना!!
महामुक्ति संघर्ष
x x x
गृह का विश्व-विवेक/ बहू के हिय में दमके!

इस प्रकार मुक्तिबोध की दृष्टि में पुरुष और स्त्री एक-दूसरे में जीवन-उष्मा बनकर समाहित हैं। उनमें मात्र स्थिति भेद है और कुछ नहीं। पुरुष-नारी के परस्पर एक-दूसरे के साथ घुल-मिल जाने पर ही एक सुदृढ़ जीवन एवं नवीन भावभूमि का निर्माण होता है। अतः उनमें लैंगिक भेदभाव एवं पूर्वाग्रहों से रहित समरसता भाव निहित होना चाहिए, क्योंकि नारी के अभाव में पुरुष जीवन किसी भी प्रकार से पूर्ण हो ही नहीं सकता, शिव भी शक्ति के सहित ही पूर्ण हैं। वस्तुतः नारी-पुरुष एक-दूसरे के पूरक हैं।इनका आपसी सामंजस्य ही एक सुखी जीवन का द्योतक है। मुक्तिबोध का काव्य इसका पुरज़ोर समर्थन करता हुआ आज के समय में भी प्रासंगिक है। ❑

संपर्क : 20/256, इंदिरानगर, लखनऊ-226016 (उ.प्र.)

63वां गणतंत्र दिवस



सूचना अ

हर हिन्दुस्तानी की शान
तिरंगा है हमारा स्वाभिमान



सत्यमेव जयते

सारण मंत्रालय
सरकार

davp 22202/13/0140/1112

AH-254/2012

पश्चिम में स्त्री-मुक्ति की पहली गूंज

पूनम कुमारी

पश्चिम में समाज और परिवार में अपने स्थान को लेकर स्त्री-संघर्ष की लंबी परंपरा रही है। इस संघर्ष की पहली आहट उस समय सुनाई दी जब स्त्रियों ने चर्च में अपने लिए निर्धारित दोयम स्थान को लेकर प्रश्न उठाए। इस प्रकार यूरोप में स्त्री-चेतना का पहला प्रस्फुटन धार्मिकता के आवरण में ही हुआ। जिस धर्म ने स्त्रियों को पुरुषों की दासता की बेड़ियां पहनाई उसी ने प्रकारांतर से स्त्रियों को मुक्ति का मार्ग भी दिखाया।

इस संदर्भ में सबसे पहले हिल्डेगार्ड का नाम लिया जा सकता है। ग्यारहवीं शताब्दी की हिल्डेगार्ड जानी-मानी लेखिका और संगीतज्ञ थीं। इन्होंने चर्च की सदस्यता स्वीकार की और नन बन गईं। बाद में इन्हें चर्च की पहली महिला उपदेशक बनने का गौरव प्राप्त हुआ। किसी महिला का उपदेशक होना तब अकल्पनीय था क्योंकि उस समय तक केवल पादरियों को ही उपदेश देने के योग्य समझा जाता था। उपदेशक के रूप में हिल्डेगार्ड ने सर्वप्रथम ईश्वर के मातृत्वपरक गुणों की ओर चर्च के सदस्यों का ध्यान दिलाया। इन्होंने कहा कि जैसे मां अपने रोते-बिलखते बच्चे को दूध पिलाती है उसी प्रकार ईश्वर अपने सभी बच्चों को कृपादृष्टि देता है। ईश्वर की कृपादृष्टि को समझने के लिए मां के रूपक को प्रस्तुत करना वस्तुतः समाज और परिवार में स्त्री को सम्मानजनक स्थान दिलाने का प्रयास था।

ईश्वर की कृपादृष्टि स्त्री-पुरुष सब पर समान है फिर चर्च के क्रियाकलापों में स्त्री-पुरुष में भेद कैसा और क्यों? शनैः-शनैः स्त्रियों को भान हो चला था कि धर्म की आड़ बनाकर उनके साथ किया गया दुहरा बर्ताव वस्तुतः धर्मगुरुओं की अपनी साज़िश और महत्त्वाकांक्षाओं की उपज है। इसी समझ ने स्त्रियों में मुक्ति की चेतना को जन्म दिया।

पंद्रहवीं शताब्दी में नार्वे की जुलियन, हिल्डेगार्ड से एक क़दम आगे बढ़ते हुए कहती हैं कि यदि आप मां की अच्छाइयों को जानते हैं तो अलग से ईश्वर की अच्छाइयों और कृपादृष्टि को जानने की ज़रूरत नहीं है, क्योंकि ईश्वर और मां में अभेद है। जैसे मां अपने बच्चे की हर ज़रूरत को जानती है उसी प्रकार जीसस भी अपने बच्चों की हर ज़रूरत को अत्यंत उदारता और कोमलता से पूरा करता है।

समाज में स्त्री के अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान को रेखांकित करने और उसे सम्मानजनक स्थान दिलाने की आकांक्षा से ही ईश्वर और मां में अभेद की अभूतपूर्व कल्पना सामने आई। हिल्डेगार्ड और जुलियन ने ईश्वर को मां के रूप में प्रस्तुत कर स्त्री के गुणों के प्रति लोगों में सम्मान जगाने का प्रयास किया। लेकिन जुलियन की समकालीन मार्ग्रे केम्पे ने ईश्वर को प्रेमी अथवा अत्यंत प्रिय मित्र के रूप में चित्रित किया। मार्ग्रे केम्पे को अंग्रेज़ी की पहली आत्मकथा लेखिका होने का गौरव प्राप्त है। इन्हें अपनी पहली प्रसव अवस्था के दौरान भयंकर दर्द और मरणांतक अनुभव से गुज़रना पड़ा। ऐसे कठिन समय में अपने पति से तनिक भी सहानुभूति और अपनत्व न मिलने पर इन्होंने क्राइस्ट की कल्पना एक ऐसे सुदर्शन युवा पुरुष के रूप में की जो उसके पास बैठकर सांत्वना देता है और कहता है कि तुम मुझे वैसे ही प्यार कर सकती हो जैसे अपने पति को करती हो। इस आनंददायक सुखद अनुभव ने मार्ग्रे को बहुत शक्ति दी। इसी शक्ति के साथ वह चौदह प्रसव पीड़ाओं को झेल सकीं। लेकिन इसके पश्चात इन्होंने अपने सांसारिक पति के सामने शर्त रखी कि यदि वह उनसे नम्रता से पेश आए तो मार्ग्रे न केवल उसके सारे कर्ज़े उतार देगी बल्कि शुक्रवार के दिन का अपना सख्त उपवास भी छोड़ देगी जिससे खाने और पीने में उसका साथ दे सके। मार्ग्रे का पति उसकी शर्तों को मान गया लेकिन उसने व्यंग्य में कहा कि मैं कामना करता हूं कि तुम्हारा शरीर ईश्वर के लिए उसी तरह उपलब्ध हो जैसे वह मेरे लिए था।

मार्ग्रे का सारा जीवन हमारे यहां की मध्ययुगीन भक्त कवयित्रियों विशेषतः मीरा, महादेवी, लल्लदुदेद और बहिणाबाई आदि की याद दिलाता है। क्योंकि ईश्वर को पति के रूप में चित्रित करना केवल माधुर्य भाव की भक्ति नहीं बल्कि एक स्त्री के लिए इसका संबंध एक ऐसे सांसारिक पति की आकांक्षा से जुड़ा है जो सब तरह से उसका सहायक और अत्यंत सहृदय हो।

मार्ग्रे द्वारा क्राइस्ट की पति के रूप में प्रस्तुत करना ईश्वर की अवधारणा में परिवर्तन का एक महत्त्वपूर्ण प्रस्थान बिंदु था। मानवेतर महिमा से युक्त ईश्वर को पति के रूप में चित्रित करना न केवल ईश्वर को मनुष्यता के सर्वोच्च आसन पर बिठाना था बल्कि सांसारिक पतियों से यह आकांक्षा भी थी कि इन गुणों को अपना कर वो भी एक सौहार्दपूर्ण समाज का सृजन कर सकते हैं।

क्राइस्ट को मां अथवा पति के रूप में प्रस्तुत कर उक्त स्त्रियों ने ईश्वर के अनंत गुणों का ही विस्तार किया। इसने पुरुषों को चौंकाया अवश्य लेकिन वे इसका कोई प्रतिरोध नहीं कर सके। नहीं कर सकते थे क्योंकि प्रतिरोध ईश्वर के अनंत सौहार्दपूर्ण गुणों को नकारना होता। लेकिन शनैः-शनैः चर्च से जुड़ी महिलाओं ने समाज में महिलाओं के दोयम दर्जे–जो मुख्यतः धर्मग्रंथ में वर्णित मान्यताओं पर आधारित था–को चुनौती देना शुरू किया। कुछ ने जेनेसिस की मान्यता के प्रति विरोध दर्ज करते हुए कहा कि संसार में आने के लिए आदम और ईव समान रूप से दोषी हैं केवल ईव नहीं। अइमिलिया लंयर ने 1611 ई. में अपने पाठकों को बताया कि क्राइस्ट

का जन्म स्त्री से हुआ। उनका पालन-पोषण भी स्त्री के द्वारा हुआ। उन्होंने न केवल स्त्री की आज्ञा का पालन किया बल्कि स्त्रियों के दुख-दर्द को बांटा। यहां तक कि पुनर्जीवित होने के पश्चात क्राइस्ट ने सबसे पहले स्त्री को ही अपना दर्शन दिया।

इस प्रकार धर्मग्रंथों में वर्णित स्त्रियों की नकारात्मक छवि तोड़ने के लिए महिलाओं ने कठिन प्रयास किया। क्योंकि स्त्री के विरोध में लिखी गई धर्मग्रंथों की बातों को वो सीधे ग़लत या भ्रामक नहीं ठहरा सकती थीं। इससे न केवल उनकी चर्च की सदस्यता समाप्त कर दी जाती बल्कि उन्हें दंड भी भुगतना पड़ता। इन्हीं धर्मग्रंथों में स्त्री के समर्थन में लिखी गई बातों को रेखांकित कर उन्हें अपने लिए समर्थन जुटाना था। जैसाकि अइमिलिया लंयन ने किया। चर्च के निर्णयात्मक मसलों पर स्त्रियों की सक्रिय भागीदारी पर भी पाबंदी थी। उदाहरण के लिए संत पॉल ने सभी पुरुषों को निर्देश दिया कि वे अपनी पत्नियों से चर्च में चुप रहने के लिए कहें क्योंकि चर्च में बोलना स्त्रियों के लिए न केवल शर्म की बात है बल्कि उन्हें इसकी अनुमति भी नहीं है।



रेखांकन : **राघवेंद्र तिवारी**

सत्रहवीं शताब्दी में चर्च से जुड़े छोटे-छोटे समूहों ने, चर्च में कुछ व्यक्तियों के एकाधिकार को, चुनौती देना प्रारंभ किया। कीथ थॉमस ने ऐसे कुछ समूहों का उल्लेख किया है। ये समूह थे ब्राउनिस्टस, इंडिपेंडेंट्स, बप्टिस्टस, मिलेरियनस, फैमिलिस्टस, क्वैकरस, रैटर्स। इन समूहों की सबसे बड़ी विशेषता थी कि ये हर इंसान को समान मानते थे। स्त्री-पुरुष, अमीर-ग़रीब का भेदभाव नहीं मानते थे। यद्यपि इन समूहों में सैद्धांतिक मतभेद भी थे लेकिन इन्होंने हर व्यक्ति में आध्यात्मिक उत्थान की बात की। जैसे क्वैकरस ने 'आत्मिक ज्ञान' की बात करते हुए कहा कि यह 'आत्मिक ज्ञान' स्त्री और पुरुष सबको समान रूप से होता है क्योंकि ईश्वर स्त्री और पुरुष में कोई भेदभाव नहीं मानता। क्वैकरस ने चर्च में महिलाओं की समान भागीदारी की ज़ोरदार वकालत की। 1659 में उस समय को देखते हुए क्वैकर्स ने अत्यंत क्रांतिकारी घोषणा की। उन्होंने कहा कि क्राइस्ट स्त्री और पुरुष सबमें समान रूप से विद्यमान है और वह सबको समान रूप से पाप मुक्त करता है।

इन समूहों ने स्त्रियों को चर्च के सामने अपनी बात रखने का अधिकार दिया। स्त्रियों के समर्थन में आए इन समूहों ने स्त्रियों के मनोबल में इज़ाफ़ा किया। ऐसे समय में स्त्रियों ने पुरुषों से समता कर अपनी आवाज़ को बुलंद किया। यद्यपि चर्च से जुड़े अधिकांश पुरुषों ने स्त्रियों के चर्च में बोलने और उन्हें पुरुषों के समान अधिकार दिए जाने के प्रस्ताव का विरोध किया। यथा 1646 में जॉन विकैरस ने कहा कि निर्भीक, गुस्ताख़ घरेलू औरतें अपने स्त्रियोचित गुणों–नम्रता और सौम्यता को छोड़ बेवकूफ़ी भरी बातें करती हैं। अपने अक्खड़ और घमंडी स्वभाव के कारण धर्मग्रंथों में स्त्रियों के लिए निषेधित बातों का भी ध्यान नहीं रखतीं। इसी प्रकार जॉन बनयान ने चर्च में महिलाओं की सक्रिय भागीदारी को एक सिरे से ख़ारिज कर दिया। इन्होंने कहा कि 'ईश्वर ने अपने यश और कीर्ति से पुरुषों को सुशोभित किया है, महिलाओं को नहीं। स्त्रियों का स्थान पुरुषों से नीचे है।' चर्च में अलग से महिला सभाओं की मान्यता जॉन बनयान ने यह कहते हुए रद्द कर दिया कि इससे अव्यवस्था फैलती है। इन्होंने चर्च की प्रार्थना में महिला अगुवाई को नकार दिया और व्यंग्य करते हुए कहा कि जो लोग महिलाओं की अगुवाई स्वीकार करना चाहते हैं वे क्वैकर्स या रैंटर बन जाएं। साथ ही इन्होंने महिलाओं को यह भी सलाह दी कि उन्हें चर्च की सभा में अपनी जीभ को साधकर चुप रहना सीखना चाहिए।

इस प्रकार एक ओर पुरुषों द्वारा चर्च में महिलाओं की सक्रिय भागीदारी का विरोध जारी था तो दूसरी ओर महिलाओं द्वारा चर्च के क्रियाकलापों और परंपरागत सोच में ज़बरदस्त हस्तक्षेप। उदाहरण के लिए 1670 ई. में एक अत्यंत उत्साही क्वैकर्स, मार्ग्रेट फेल ने कहा कि महिला के हृदय से भी ईश्वर की वाणी निकलती है जो लोग केवल महिला का होने के कारण इस वाणी का विरोध करते हैं वे वस्तुतः क्राइस्ट और चर्च का विरोध करते हैं।

यद्यपि इस दौर में महिला प्राफिटों को बड़ी आसानी से उन्मादी और पागल करार दे दिया जाता था। 17वीं शताब्दी में इंग्लैंड में औरतों पर विचक्राफ्ट के अभियोग में मुकदमा चलाया जाता था। उस समय चर्च से जुड़ी महिलाओं के प्रगतिशील विचारों पर अंकुश लगाने के लिए भी उन पर विचक्राफ्ट का अभियोग लगाया गया। यहां लेडी इलेनार डेविस का उल्लेख किया जा सकता है। 1625 में इलेना डेविस द्वारा निर्मित एक धार्मिक निबंध प्रकाशित हुआ। इस निबंध को इलेनार ने ईश्वरीय प्रेरणा से मुक्त बताया और अन्य बातों के साथ-साथ इस निबंध में चार्ल्स-1 के निधन की भविष्यवाणी भी की। फलतः इलेनार की सारी किताबों को जला दिया गया,

उन्हें पागल क़रार कर उन पर फब्तियां कसी गईं। विश्वासघात के आरोप में, उन पर मुकदमा चलाकर जुर्माना लगाकर उन्हें जेल भी भेजा गया। लेकिन अंततः लेडी इलेनार इन सारे प्रतिघातों से उबर कर सामने आईं। अपनी सच्चाई और योग्यता के बल पर उन्होंने अपने को निर्दोष साबित किया। 1641 ई. तक इलेनार ने अपने 37 धार्मिक निबंध प्रकाशित करवाए। इन निबंधों में उन्होंने स्त्री-पुरुष दोनों को ईश्वर की संतान बताते हुए दोनों को समान बताया और महिला अधिकारों की वकालत की।

अब धीरे-धीरे चर्च के दायरे में रहकर ही महिलाओं ने राजनीति में रुचि लेना आरंभ किया और राजनीतिक विषयों पर अपनी राय देना प्रारंभ किया। उदाहरण के लिए 1654 में अन्ना ट्रेपनेल को व्हाइटहॉल में पुरुष उपदेशक के साथ प्रॉफेटेस नियुक्त किया गया। इन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि ईश्वर ने स्त्री-पुरुष दोनों के लिए अपने संदेश संप्रेषित किए हैं जो दोनों पर समान रूप से लागू होते हैं। अन्ना ट्रेपनेल ने पुरुषों के प्रति पक्षपातपूर्ण रवैये और स्त्रियों के प्रति दुर्व्यवहार को लेकर उस समय के सरकार की जमकर आलोचना की। परिणामतः चर्च के पदाधिकारियों ने उस पर पागल होने का आरोप लगाया, उस पर मुकद्दमा चलाया गया। लेकिन अपनी वाक्पटुता और कौशल से अन्ना ट्रेपनेल कोर्ट में अपने को निर्दोष साबित करने में सफल हुई और पुनः पूरे जोश के साथ उसने न केवल प्रॉफेटेस का कार्य किया बल्कि स्त्री-पुरुष समानता की भी जमकर वकालत की।

सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक आते-आते स्त्रियों ने न केवल चर्च में अपने लिए पुरुषों के समान स्थान और अधिकार की बात की बल्कि सामाजिक और राजनीतिक क्रियाकलापों में भी इनकी सक्रियता बढ़ी। निश्चय ही सामाजिक-राजनीतिक सक्रियता का मार्ग स्त्रियों के लिए चर्च ने ही खोला। इस संदर्भ में बपिस्ता समुदाय ने स्पष्ट रूप से कहा कि इस संसार में ईश्वर का बनाया हुआ जो भी है, सब समान है। अतः स्त्री और पुरुष को केवल चर्च में ही नहीं बल्कि जीवन के हर क्षेत्र में समानता हासिल होनी चाहिए। बपिस्ता समुदाय की स्त्रियों ने चर्च में मिले अपने स्थान और अधिकार से उत्साहित होकर 1640-50 में पहले-पहल अपने गिरफ्तार पतियों की रिहाई के लिए वेस्टमिनिस्टर में प्रदर्शन किया। साथ ही अपने दैनंदिन कठिनाइयों के संदर्भ में भी शिकायत दर्ज की यद्यपि प्रदर्शनकारी महिलाओं के साथ बहुत बुरा बर्ताव किया गया और उन्हें इस बात पर फटकार लगाई गई कि वे अपनी समझ के बाहर की चीज़ों में हस्तक्षेप न करें। साथ ही 1642-43 में जिन महिलाओं ने चर्च की परिधि से बाहर निकलकर सामाजिक-राजनीतिक क्षेत्र में अपने अधिकारों की बात की उन्हें वेश्या, गुस्ताख़, स्वार्थी और बावर्ची कहा गया। इसके बावजूद महिलाओं ने हिम्मत नहीं हारी। इसके पश्चात तीन सौ महिलाओं ने हाउस ऑफ लॉर्ड में अपने अधिकारों को लेकर एक याचिका दायर की। लेकिन लेनॉस के ड्यूक ने न केवल याचिका वापस कर दी बल्कि ताना मारते हुए यह भी कहा कि अच्छा होता हमारे यहां महिलाओं का संसद होता।

अब महिलाएं सामाजिक-राजनीतिक क्षेत्रों में ख़ासी दिलचस्पी लेने लगी थीं। मई 1649 में लेवलर बंदियों को छुड़ाने के लिए महिलाओं ने एक और याचिका दायर की। याचिका को यह कहते हुए ख़ारिज कर दिया गया कि महिलाओं को अपने घरों में रहते हुए बरतन धोने चाहिए। लेकिन इससे महिलाओं का मनोबल कम नहीं हुआ, अब और अधिक संख्या में महिलाएं अपने घरों से निकलकर अपने अधिकरों की मांग करने लगीं। 1649 के अंत में महिलाओं ने हाऊस ऑफ लॉर्ड के सामने एक अन्य महत्त्वपूर्ण याचिका दायर की। इस याचिका पर दस हज़ार महिलाओं के हस्ताक्षर थे। इस याचिका में कहा गया कि स्वतंत्रता, सुरक्षा के अधिकार केवल पुरुषों के लिए ही नहीं स्त्रियों के लिए भी उतने ही लाभकारी हैं। अतः स्त्रियों को इन अधिकारों से वंचित न किया जाए। इस याचिका में यह भी कहा गया कि ईश्वर की नज़र में स्त्री-पुरुष सब समान हैं फिर आपकी (हाऊस ऑफ लॉर्ड) नज़रों में क्या हम इतने तुच्छ हैं कि शिकायत याचिका भी दायर नहीं कर सकते। यद्यपि इस याचिका का हश्र भी वही हुआ जो इससे पहले की याचिकाओं का हुआ था। लेकिन इन याचिकाओं के द्वारा महिलाओं ने चर्च के बाहर लोगों का ध्यान अपनी मांगों की ओर आकर्षित किया।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि पश्चिम में स्त्री-मुक्ति की पहली आवाज़ चर्च से ही उठी। ईश्वर की कृपादृष्टि स्त्री-पुरुष सब पर समान है फिर चर्च के क्रियाकलापों में स्त्री-पुरुष में भेद कैसा और क्यों? शनैः-शनैः स्त्रियों को भान हो चला था कि धर्म की आड़ बनाकर उनके साथ किया गया दुहरा बर्ताव वस्तुतः धर्मगुरुओं की अपनी साज़िश और महत्त्वाकांक्षाओं की उपज है। इसी समझ ने स्त्रियों में मुक्ति की चेतना को जन्म दिया। निम्न पंक्तियों में स्त्रियों की इसी समझ की प्रतिध्वनि सुनाई देती है–

परमपिता ने
साथ-साथ भेजा था
कहा था–तुम दोनों मेरी संतान हो
साथ-साथ रहना, चलना, बढ़ना।
मैं चल पड़ी थी–
हाथों में हाथ डाले,
पिता के वचनों की गांठ बांधे
तुम्हारे प्रेम में मुग्ध, विस्मृत।
कहां जान पाई
उन अमृत वचनों को तुम
पहना रहे हो अपनी इच्छाओं का जामा।

मुझसे कहते रहे–
पिता के वचन हैं,
मैंने बस उतारा है शब्दों में।
पर पिता,
मेरे प्रति इतने क्रूर कैसे हो सकते थे?
अब समझ में आया।
पर अब मैं सीख गई हूं,
पिता के वचनों से तुम्हारी इच्छाओं को अलगाना।
तुम तिलमिला उठते हो, मेरी इस परख पर।
छोड़ो,
जो लिखा सो लिखा।
आओ,
तुम भी मेरी मदद करो–
पिता के वचनों से
अपनी इच्छाओं को हटाने में। ❑

संपर्क : रीडर, धर्म समाज महाविद्यालय, अलीगढ़ (उ.प्र.)

एक मुकम्मल औरत का ख़्वाब

(ए रूम ऑफ़ वन्स ओन–वर्जीनिया वुल्फ़)

प्रभा दीक्षित

प्रसिद्ध अंग्रेज़ी नारीवादी लेखिका एवं 'स्ट्रीम ऑफ़ कान्शसनेस' शैली की प्रवर्तक वर्जीनिया वुल्फ़ के साहित्याकाश में प्रवेश करना थोड़ा जोखिम भरा है। इसका कारण यह भी नहीं है कि घनी बेलों से आच्छादित वनों के अंधकार में रास्ते की तलाश कठिन हो जाती है। रोशनी है, रास्ते हैं, ऊंचे-नीचे एक दिशा को जाते हुए, पहाड़ी नदी-सी गति है, खाइयां हैं, पर्वत हैं, एक विराट विश्व है और है सापेक्षिक कल्पना की ऊंची उड़ान जो अतियों को छूने के बाद भी अपनी जड़ों को नहीं छोड़ती और अपने संवेदनात्मक तर्क द्वारा एक मुकम्मल औरत का ख्वाब देखती है।

वर्जीनिया वुल्फ़ का जन्म 18वीं शताब्दी के अंत में इंग्लैंड में हुआ था। पिता लेस्ली स्टीफेंस एक दार्शनिक थे। वह बचपन से ही शारीरिक रूप से कमज़ोर और मानसिक रूप से रुग्ण थीं। इसीलिए उनकी शिक्षा-दीक्षा घर पर ही संपन्न हुई। उन्होंने अपने जीवनकाल में तीन बार आत्महत्या करने का प्रयास किया। इस बारे में उनके जीवनीकार का कथन है–कि 1940 में वुल्फ़ दंपत्ति को नाज़ियों (हिटलर) के हमले का भय सताने लगा था, अतः असुरक्षा बोध के कारण वुल्फ़ ने कपड़ों में पत्थर बांधकर नदी में छलांग लगाकर अपने जीवन का अंत कर दिया।

वुल्फ़ के मूर्त रचना-संसार में प्रवेश करना सरल नहीं है। अपने अध्ययन कक्ष से निकलने के बाद पेड़ की एक सूखी गिरती हुई पत्ती को अपलक निहारने वाली एवं उसमें अपने निजी जीवन से लगाकर नारी वर्ग के जीवन का अवसादपूर्ण सौंदर्य तलाशने वाली इस विदुषी महिला के बारे में, जो अवधारणाओं, सिद्धांतों को सीधे न कहकर रूपकों, कथानकों और मिथकों का सहारा लेती हुई दृष्टिगत होती हैं, के संपूर्ण व्यक्तित्व एवं कृतित्व को समग्रता में शब्द देना संभव नहीं है।

लेखिका ने सीधे-सीधे अपनी आत्महत्या के प्रयासों या आत्महत्या के बारे में कुछ नहीं लिखा है लेकिन जाने-अनजाने अपनी पुस्तक *ए रूम ऑफ़ वन्स ओन* (अपना कमरा) में कई बार ऐसे संकेत देती हैं जिनके आधार पर कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। वे लिखती हैं–"सोलहवीं शताब्दी के इंग्लैंड में यदि कोई बुद्धिमान स्त्री पैदा हुई होती तो क्या उसके सामने आत्महत्या के अलावा दूसरा कोई विकल्प रहा होता।" स्पष्ट है कि 18वीं शताब्दी के इंग्लैंड में भी स्त्री को पुरुष की अपेक्षा बहुत कमतर समझा जाता था। इस दुख के अतिवादी चिंतन ने ही उन्हें आत्महत्या के लिए विवश किया होगा। मानसिक रोग भी इसका आंशिक कारण हो सकता है। मानसिक रोग चिंतन के क्षेत्र में कई बार वरदान साबित हुआ है। डा. रामविलास शर्मा के अनुसार–"मुक्तिबोध आजीवन सीज़ोफ्रेनिया के मरीज़ रहे। उन्होंने तात्कालिक रूप से आत्महत्या तो नहीं की किंतु अल्पायु में उनकी मृत्यु उनकी आत्महन्ता प्रवृत्ति को ही चिन्हित करती है। हां इस थोड़े से काल में मुक्तिबोध ने अपने काल्पनिक यथार्थ के द्वारा जिस मौलिक काव्य-जगत की सृष्टि की है–वैसी आगे कई शताब्दियों तक संभव नहीं होगी। निराला ने भी अपनी विक्षिप्त मानसिक अवस्था में अप्रतिम काव्य का सृजन किया। अभी हाल ही के दशक में युवा कवि गोरखपांडे, जो मानसिक अस्वस्थता के शिकार हुए, के काव्यात्मक अवदान के आधार पर कहा जा सकता है कि भविष्य में उनसे अधिक अपेक्षाएं थीं, किंतु गोरख ने भी आत्महत्या की थी। वस्तुतः साहित्य अपनी प्रतिबद्धताओं के बावजूद एक दिमाग़ी खेल है और कई बार इस दिमाग़ी खेल के खिलाड़ी को मानसिक विकृति की तीव्र प्रतिक्रिया उसके कलात्मक सोच को शिखर तक ले जाने में सहायक बनती है। वुल्फ़ के साहित्य के अध्ययन के आधार पर इस परिणाम पर पहुंचा जा सकता है कि बौद्धिक मानदंडों के आधार पर वे अपने समय से कई शताब्दियां आगे थीं। नारी जाति की वर्गीय त्रासदी उनके मस्तिष्क का केंद्रीय अवसाद था। अपने जीवन के निजी दुख, यौन दुर्घटना व विसंगतियां मानसिक रोग में कोढ़ में खाज बन गई होंगी और इसी भयावह अवस्था के किसी पल में उन्हें अपने जीवन की सार्थकता संदिग्ध लगी होगी किंतु संभवतः इसी मानसिकता का यह श्रेय भी है कि वह अपनी समकालीन नारीवादी फ्रांसीसी लेखिका सीमान द बोउवार के समान नारी जीवन की त्रासदी के विविध आयामों को अपनी संपूर्णता में चिन्हित करने में सफल हुई हैं। सीमोन के बरअक्स वे नारीवाद की सैद्धांतिकी नहीं गढ़ती हैं बल्कि नारी-विमर्श को हर कोण से कैमरा चित्र की भांति प्रस्तुत करती हुई दृष्टिगत होती हैं। यूं भी उनकी विश्व-प्रसिद्ध नारी-विमर्श की पुस्तक *ए रूम ऑफ़ वन्स ओन* कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में 'कथा साहित्य' में स्त्री विषय पर दिए गए दो व्याख्यान हैं जिन्हें बाद में संशोधित करके पुस्तक का रूप दिया गया है। इस विश्वविद्यालय की आर्ट सोसायटी और 'अदेता' नामक संस्था ने संयुक्त रूप से उपर्युक्त विषय-वस्तु पर उन्हें बोलने के लिए निमंत्रित किया था! निमंत्रण प्राप्त होने पर वे सप्ताह भर इसी विषय पर सोचती रहीं। सोचने के लिए इधर-उधर भटकती रहीं। यह सोच, यह चिंतन, यह भटकन अपनी संपूर्ण भाषाई शैलीगत कलात्मकता के साथ उनके भाषण के शब्द-शब्द में तनकर खड़ा हुआ है। यह उनका प्रिय विषय था और कहना न होगा कि इस विषय पर उन्होंने अपने पूर्ववर्ती कई विचारकों का गहन

अध्ययन किया था। विषय-वस्तु पर कुछ सैद्धांतिक या पारंपरिक बातें कहकर वे अपना पल्लू नहीं झाड़ना चाहती थीं। वे अपनी बात को कुछ विशिष्टता लिए हुए मौलिक ढंग से प्रस्तुत करना चाहती थीं! यही कारण है कि वे अपनी यथार्थवादी कल्पना के सहारे इतिहास के बीहड़ों में भटकती रहीं और वर्तमान की हर ठोकर की नोटिस लेती हुई, भविष्य के तर्कशील इंद्रधनुषी रंगों वाले प्रासाद का निर्माण करती दृष्टिगत होती हैं।

वे अपने भाषण के प्रारंभ में अपने निजी कमरे का ज़िक्र करते हुए कहती हैं–"आप कह सकती हैं कि हमने तो आपसे औरत और कथा साहित्य पर बोलने को कहा था उसका आख़िर अपने कमरे से क्या लेना-देना है? मैं बताने की कोशिश कर रही हूं कि आपने जब मुझे औरत और कथा साहित्य पर बोलने को कहा तो मैं नदी के तट पर बैठकर सोचने लगी कि इन शब्दों के अर्थ क्या हैं? साधारणतः इन शब्दों के दो मायने होते हैं। फैनी बर्नी के बारे में दो बातें, थोड़ी बातें जेन आस्टिन के बारे में ब्रौंटेस को श्रद्धांजलि और बर्फ़ में दबे हुए हावर्ड मठ का रेखाचित्र, यदि संभव हो तो मिटफोर्ट के बारे में कुछ मनोरंजक बातें, जार्ज इलियट के बारे में कुछ श्रद्धापूर्ण संकेत, मिसेज़ गास्केल का थोड़ा ज़िक्र और काम बन गया होता, लेकिन ध्यान से देखने में मुझे ये शब्द इतने सरल नहीं लगे। औरत और कथा-साहित्य का अर्थ होता है औरत जैसी वह होती है।" (अपना कमरा, पृष्ठ 15)

इस प्रारंभिक वाक्यांश से ही यह प्रमाणित हो जाता है कि वुल्फ़ विषय-वस्तु पर कुछ नितांत सैद्धांतिक या सतही पारंपरिक ढंग से कुछ नहीं कहना चाहतीं। वे अपने चिंतन को, जो स्त्री जाति की सामाजिक वस्तुस्थिति पर आधारित है, को शब्द देना चाहती हैं, आत्मा के सत्य से लबरेज़ शब्द। इसीलिए वे सर्वप्रथम अपने कमरे पर बोलती हुई यह बताती हैं कि हर स्त्री के पास पुरुषों की भांति अपना निजी कमरा होना चाहिए जहां बैठकर वह अपने निजी जीवन या स्त्री जीवन के बारे में कुछ सोच सके या लिख सके। उस काल में इंग्लैंड में महिलाओं के पास अपना निजी कमरा रखने का चलन नहीं था। वे बात निजी कमरे से प्रारंभ करती हैं और विभिन्न पुस्तकों जैसे दर्शन, विज्ञान, इतिहास, भूगोल, संगीत, कला, मनोविज्ञान और साहित्य की अवधारणाओं को खंगालती हुई, लंदन की गलियों और सड़कों पर भटकती, व्यवहारिक कठिनाइयों से साहित्यिक अवधारणाओं की तुलनात्मक विवेचना करती, निजी और सामूहिक जीवन का मिलान करती, चिंतन के उस त्रासद परिणामों पर पहुंचती दिखाई देती हैं, जो स्त्री जीवन का सत्य है। यथार्थ के संयोग से निर्मित यह रचना-संसार अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति में बेजोड़ हो उठती है। शायद इसलिए इस लेखिका पर क़लम चलाते हुए मुझे मुक्तिबोध की याद आने लगती है। लेखिका अपनी बातों को सीधे-सीधे न कहते हुए कुछ छोटे-छोटे दृश्य उकेरती चलती हैं। उदाहरणार्थ जब वे उन्नीसवीं सदी के इंग्लैंड के बढ़ते औद्योगीकरण की मशीनी व्यस्तता के दौरान साहित्य के मूल्यों के हाशिए पर होने की बात कहना चाहती हैं, तो इसे सीधे-सीधे न कहकर पहले लंदन शहर के खुशगवार मौसम का वर्णन करती हैं, बादलों से झांकती धूप के सुखद स्पर्श को नहीं भूलतीं, कामकाजी महिलाओं/पुरुषों की व्यस्त भागदौड़ को चिन्हित करती हैं। चर्च जाते लोगों की अंध श्रद्धा और रूढ़िग्रस्तता का एक विद्रूपता के साथ उल्लेख करती हैं और शहर के विशाल फलक को निहारती हुई पूरी संजीदगी से कहती हैं–"मुझे कहीं भी कोई भी शेक्सपियर पढ़ते दिखाई नहीं देता" और साहित्यिक मूल्यों के अवमूल्यन के प्रति भविष्य के लिए शंका प्रकट करती हैं। साथ ही किसी महाकाव्य या उसके रचयिता का नाम लेकर उसके नारी-विषयक दृष्टिकोण पर प्रश्नचिह्न लगाती हुई, एक अवसादपूर्ण व्यंग्य का संकेत करती दृष्टिगत होती हैं। यही बात उन्हें उनकी समकालीन लेखिकाओं/लेखकों की कतार से अलग खड़ा करती है। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि वे स्त्री-विमर्श पर कभी सीधे बात नहीं करती हैं, हां अपेक्षाकृत कम करती हैं किंतु जब कभी वे सपाटबयानी करती हैं, तो वह वाक्यांश उनके गहन अध्ययन और व्यवहारिक दृष्टि की संवेदना का निचोड़ होता है। देखें उन्हीं के शब्दों में–"काल्पनिक रूप से उसका महत्त्व सर्वोच्च होता है, व्यवहारिक रूप से वह सर्वथा महत्त्वहीन है। कविता के पृष्ठ-दर-पृष्ठ में वह व्याप्त है। इतिहास में वह अनुपस्थित है। कथा साहित्य में वह राजाओं, विजेताओं की ज़िंदगी में राज करती है। वास्तविकता में वह किसी पुरुष की गुलामी करती है, जिसके मां-बाप उसकी उंगली में एक अंगूठी ठूंस देते हैं। साहित्य में कुछ अत्यंत प्रेरक शब्द, कुछ अत्यंत गंभीर विचार उसके होठों से झरते हैं। असली ज़िंदगी में वह कठिनाई से पढ़ सकती है, कठिनाई से बोल सकती है और अपने पति की संपत्ति है।" (*ए रूम आफ़ वन्स ओन*, पृष्ठ 58)

वुल्फ़ अपनी बातों की प्रामाणिकता के लिए किसी भी लेखक या विचारक को उद्धृत कर सकती हैं। वह अपने संपूर्ण स्त्री-विमर्श में मार्क्स का नाम तो नहीं लेतीं परंतु आर्थिक आधारों की अनिवार्यता को स्थान-स्थान पर चिन्हित करती हैं। वे अपने प्रारंभिक जीवन में काफी अभावग्रस्त भी रहीं। उन्हें अपने जीवनयापन के लिए बहुत से छोटे-मोटे काम, दस्तकारी आदि करने पड़े, किंतु विक्टोरियन युग में उनकी एक रिश्ते की मौसी, जो एक धनी महिला थीं और भारत के मुंबई नगर में घुड़सवारी करते हुए घोड़े से गिरकर उनकी मृत्यु हो गई थी, उन्होंने उनके नाम एक वसीयत की थी जिसके अनुसार वुल्फ़ को 500 पौंड प्रति वर्ष प्राप्त होने लगे और वह रक़म उनके लिए एक वरदान सिद्ध हुई। इस रक़म से उन्होंने अपने पति के साथ मिलकर एक प्रिंटिंग प्रेस लगाया और प्रकाशन का काम प्रारंभ कर दिया। उन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के अपने समकालीन लेखकों की पुस्तकें प्रकाशित कीं जिसमें कैथरीन मैन्सफील्ड, ई.एम. फास्टर और टी.एस. इलियट आदि लेखक शामिल थे। वे स्वयं पुस्तकों के प्रूफ़ पढ़ती थीं। इस प्रकार अपने समकालीन लेखकों से लेकर सोलहवीं शताब्दी के लेखकों को वुल्फ़ ने स्वयं पढ़ा था, उन्हें आत्मसात किया था। यही कारण है कि इतिहास के पृष्ठों पर नारी जाति की त्रासद-अवस्था और उसी काल के साहित्य में नारी के रूप व गुणों का यशोगान, इस आडंबर पूर्ण अंतर्विरोधों को स्पष्ट करने में उन्हें सफलता मिली है। वे स्वयं लिखती हैं–

"मुझे संतोष है कि स्त्रियों ने पुरुषों के बारे में पुस्तकें नहीं लिखीं।"

वे अपने संपूर्ण लेखन में किताबों को माध्यम बनाकर अपनी बात करती दिखाई देती हैं। इसका एक छोटा कारण यह भी है कि उन्हें 'औरत और कथा साहित्य' विषय पर बोलने को कहा गया था। वे अपने व्याख्यान की तैयारी के लिए लंदन की एक लाइब्रेरी में जाती हैं, जहां दरबान द्वारा उन्हें यह कहकर रोक दिया जाता है कि उनके पास किसी प्रोफ़ेसर कर अनुशंसा-पत्र नहीं है। उस समय तक वह स्वयं इतनी प्रसिद्ध हो चुकी थीं कि अपना असली परिचय देकर लाइब्रेरी में जा सकती थीं, किंतु उन्होंने ऐसा नहीं किया, क्योंकि वे यह दिखाना चाहती थीं कि 19वीं शताब्दी में किसी सामान्य महिला को बिना किसी प्रोफ़ेसर के अनुशंसा-पत्र के वहां के पुस्तकालयों में जाकर अध्ययन करने की अनुमति नहीं थी। वे अपने चिंतन के दौरान या तो किसी निर्जन स्थान पर बैठकर स्त्री की दशा पर सोच-विचार करती हैं या फिर अपने कमरे में पुस्तक-संग्रह से ऐतिहासिक कालखंड के अनुसार पुस्तकों को

निकालती हैं और उन पर अपनी राय व्यक्त करती हैं। यह उनके बात करने का अपना ढंग है। एक नया आविष्कार है, एक नई शैली की खोज है जो पूर्ण सार्थकता के साथ अपनी मौलिकता प्रदर्शित करती है। वे कहती हैं–मेरी बग़ल में एक पुस्तक रखी है। मैंने उसे खोला। अचानक मेरी निगाह टेनीसन पर पड़ी। टेनीसन गा रहे थे–(अनूदित कविता)

भाव पुष्प से दरवाज़े पर/आंसू गिरा एक पागल
चली आ रही मेरी प्यारी/मेरा जीवन धन संबल।
लाल गुलाब पुकार रहा है/आई आकर चली गई
जबकि श्वेत पुष्प शोकातुर/प्यारी अभी नहीं आई।

कविता समापन के बाद वे प्रश्न करती हैं 'क्या युद्ध पूर्व की लंच पार्टियों में पुरुष यही सब गुनगुनाते थे? वह दूसरी पुस्तक खोलती हैं और क्रिस्टीना रोसेटी की दूसरी कविता प्रस्तुत करती हैं–*मेरा दिल एक बुलबुल है/हरा बाग है उसका घर/मेरा दिल एक सेव की डाली/फल करके झुक गई सुघर/मेरा दिल सतरंगी सीपी/शांत समंदर में रहकर/मेरा दिल है सबसे सुंदर/प्रेमी आया मेरे दर।*

वे पुनः प्रश्न करती हैं–"क्या यही था जो युद्ध पूर्व की लंच पार्टियों में महिलाएं गुनगुनाती थीं?" वे आगे कहती हैं–"यह सब इतना हास्यास्पद था कि मेरी हंसी फूट पड़ी" और लोगों को अपनी हंसी का कारण बताने के लिए मुझे पास खड़ी दुमकटी बिल्ली का सहारा लेना पड़ा जिसकी उपस्थिति लॉन में बेहद बेतुकी लग रही थी।"

स्पष्ट है कि वे जहां टेनीसन एवं क्रिस्टीना रोसेटी पर एक व्यंग्यात्मक विद्रूप प्रस्तुत कर रही थीं वहीं युद्धपूर्व की नारी की तुलना एक दुमकटी बिल्ली से कर रही थीं जो अपने मालिक की दया पर निर्भर रहकर अपनी दयनीय हास्यास्पद स्थिति पर कुछ सोच नहीं पा रही थी। वह उपरोक्त कविताएं पढ़ती हैं–सोचती हैं, हंसती हैं और अंत में चीख़ पड़ती हैं। वे स्वयं लिखती हैं–"अंत में मैं चिल्ला पड़ी, जिस प्रकार एक विषादयुक्त ढलती सांझ में चिल्लाने का मन करता है।"

वे कहती हैं–"वाह यह भी क्या कवि थे?" उनके शब्द-शब्द में नारी की वर्गीय त्रासदी की आत्मिक चेतना का अवसादपूर्ण संगीत बज उठता है। इस अवसादपूर्ण संगीत के लिए, इस अति संवेदनशीलता के लिए मैं किन शब्दों का प्रयोग करूं? यह मेरे लिए भी एक समस्या है।

वे अपने दूसरे अध्याय की भूमिका में लिखती हैं–"मैं अक्सर सोचती हूं, मर्द वाइन क्यों पीते हैं? और स्त्रियां पानी क्यों पीती हैं? मर्द इतने धनी क्यों हैं? स्त्रियां इतनी दरिद्र क्यों हैं? कथा साहित्य पर इस दरिद्रता का क्या प्रभाव पड़ता है? और कलाकृतियों के सृजन के लिए कौन-सी परिस्थितियां आवश्यक होती हैं? हज़ारों प्रश्न अपने-आप सूझने लगे लेकिन आवश्यकता सवालों की नहीं जवाबों की थी।" (*अपना कमरा*, पृष्ठ 55)

वुल्फ़ अपने कमरे की दुनिया में पुस्तकों का अध्ययन करती हैं। पुस्तकों में कुछ तलाशती हैं बाद में नदी किनारे बैठकर कुछ विचार करती हैं और इन तीनों आयामों को संयुक्त कर स्त्री की दीन दशा की मार्मिक दुनिया की निर्मिति एक अद्‌भुत भाषाई शिल्प के साथ करती हैं। वे लिखती हैं–

"मेरी कापी का प्रत्येक पृष्ठ नोटों की घिसावट से भरा हुआ था। मैं जिस दिमाग़ी हालत में थी उसके प्रदर्शन के लिए उसमें से कुछ को पढ़ूंगी और आप देखेंगी कि जिस पृष्ठ के ऊपर साधारण ढंग से मोटे अक्षरों में शीर्षक लगा हुआ था। वह निम्नलिखित था–

मध्ययुग में स्थिति
फिली द्वीप-समूह में आदतें
देवी की भांति पूजित/नैतिक अर्थों में हीनता/
आदर्शवाद/ महत्तर कर्त्तव्य निष्ठा/ दक्षिणवासियों में यौवनारंभ की आयु/ आकर्षणकर्त्ता/ बलिदान हेतु प्रस्तुत/ मस्तिष्क के लघु आकार
दृढ़तर अवचेतन अवस्था/ शरीर पर कम रोम/
मानसिक नैतिक व शारीरिक हीनावस्था/ बच्चों से प्रेम/
उच्चतर शिक्षा/ शेक्सपियर की राय/ आस्कर ब्राउनिंग की राय/
लार्ड विकर्नहड की राय/ डॉ. जानसन की राय/
ऑस्कर ब्राउनिंग की राय/

(*अपना कमरा*, पृष्ठ 38-39)

अनेक पुस्तकों की विषय-वस्तु देखने के बाद वे सोचती हैं कि सैमुअल बटलर ने यह क्यों कहा कि समझदार लोग स्त्री के बारे में जो कुछ भी सोचते हैं वह कहते नहीं हैं। ओह समझदार लोग तो किसी भी चीज़ के बारे में साफ़-साफ़ कुछ नहीं कहते।

लाप्रेयर कहते हैं–"औरतें अतिवादी होती हैं एवं मर्दों से बेहतर होती हैं।" गेटे महिलाओं का सम्मान करता है और मुसोलिनी नफ़रत करता है। अंत में वुल्फ़ इन विरोधाभासी टिप्पणियों से ऊबकर इस परिणाम पर पहुंचती हैं कि इन सब की राय जानने की आवश्यकता क्या है? और भूख लगने के कारण एक रेस्तरां में खाना ख़ाने चली जाती हैं। वहां एक रद्‌दी अख़बार का टुकड़ा फ़र्श पर पड़ा हुआ है। जिसकी हेडिंग चमक रही है–"न्यायमूर्ति श्री. ..ने तलाक की अर्ज़ी देने पर अदालत में औरतों की निर्लज्जता पर टिप्पणी की। कोई फ़िल्म अभिनेत्री कैलीफोर्निया में किसी चोटी से लटका दी गई। वह अधर में झूलती रही। वे सोचती हैं कि इस पृथ्वी गृह का सर्वाधिक संवेदनहीन व्यक्ति भी यदि इस अख़बार को देखे तो वह यह समझ लेगा कि इंग्लैंड पितृसत्ता के अधीन है, जहां विचारक, न्यायाधीश, प्रोफ़ेसर सभी पुरुष हैं। सबके पास अपनी सत्ता है, पैसा है, न्याय है, ताक़त है, उन्हें हर स्थिति में यही तय करना है कि स्त्री जाति को अपने अधीन कैसे रखा जाए। उनके लिए आचार-संहिताएं बनानी हैं। तय करना है कि उन्हें क्या पढ़ना चाहिए? क्या लिखना चाहिए? अंत में वह प्रश्न करती हैं–'औरतें मर्दों के लिए इतनी आवश्यक क्यों हैं? या औरतों की आलोचना से पुरुष इतना बेचैन क्यों हो उठता है? वह कानून बनाता है, किताबें लिखता है, औरतों के बारे में भाषण देता है। हां स्त्रियां भी पुरुषों के बारे में एक भ्रामक तस्वीर बनाए हैं। उसे स्त्रियां तोड़ दें तो सब कुछ समाप्त हो जाएगा।' अंत में वे लिखती हैं–'मैंने अपनी खिड़की से झांककर देखा दुनिया की आधी आबादी इस भ्रमपूर्ण तस्वीर को सीने से दबाए भागी चली जा रही है।'

यह सब कुछ सोचती हुई वे अपने कमरे की ओर वापस लौटती हैं। शाम ढल रही है। बत्तियां जलाई जा रही हैं। वह इस परिवर्तन का नोटिस लेती हैं। उनकी गली के आसपास एक घरेलूपन पसरा हुआ है। आसपास के लोग अपने सांध्यकालीन कामों में व्यस्त हैं। वे पुनः अपने-आप से कहती हैं–"बुद्धिजीवी कहते हैं स्त्रियां अधिक दिनों तक जीवित रहती हैं। अरे उन पर लादा हुआ संरक्षण हटाइए, उन्हें भी उद्योगों की समान गतिविधियों में भाग लेने दीजिए, बस औरतें भी मर्दों के समान शीघ्र मरने लगेंगी।"

अंत में वे अपने कमरे का दरवाज़ा खोलते हुए सोचती हैं–'जब औरतपन एक संरक्षित पेशा नहीं रह जाएगा, तो सब कुछ बदल जाएगा।" यह उनका भाषण था जिसके अंत में वे अपने श्रोताओं से पूछती हैं–

"इन सब चीज़ों का मेरे भाषण की विषयवस्तु से क्या संबंध है।"

स्त्री-विमर्श पर काम करने का, लिखने-बोलने का वुल्फ़ का अपना

तरीक़ा है। उनकी अपनी भाषा-शैली है जिसे हमें समझना होगा।

वुल्फ़ शेक्सपियर के ज़माने में स्त्री जाति की पराधीनता को चिन्हित करते हुए उन विचारकों को उत्तर देती हैं जो स्त्रियों को प्रतिभाहीन बताते हैं, जो कहते हैं सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी तक स्त्री जाति में कोई लेखिका शेक्सपियर जैसी प्रतिभासंपन्न पैदा नहीं हुई। वह कहती हैं–कि मान लीजिए शेक्सपियर की कोई बहन होती और वह भी शेक्सपियर की भांति प्रतिभासंपन्न होती, तो भी क्या वह उस काल में शेक्सपियर जैसी बन पाती। क्या उसे शेक्सपियर के समान सुविधाएं प्राप्त हो पातीं? इसके बावजूद भी यदि वह शेक्सपियर बनना ही चाहती तो उसका क्या भविष्य होता? देखिए लेखिका के शब्दों में–

"उसने अपने-आपको एक ठंडी रात में मार डाला और उसी चौराहे पर उसकी लाश पड़ी हुई है, जहां एलीफेंट और कैसल के बाहर अब बसें रुका करती हैं। शेक्सपियर के ज़माने में यदि किसी स्त्री में शेक्सपियर जैसी प्रतिभा होती तो उसकी कहानी तकरीबन यही होती लेकिन अपनी तरफ से मैं उन दिवंगत पादरी महोदय से सहमत हूं जैसा वह कहते थे कि शेक्सपियर के ज़माने में शेक्सपियर जैसी प्रतिभा किसी स्त्री में रही हो, यह अकल्पनीय है। क्योंकि शेक्सपियर जैसी प्रतिभा मेहनतकश गुलाम लोगों में नहीं होती। आजकल वह प्रतिभा मज़दूर वर्ग में नहीं होती, तब यह प्रतिभा स्त्रियों में कैसे पैदा हुई होती, जिनके काम प्रो. ट्रैवेलियन के मुताबिक नर्सरी से पहले बाहर निकलते ही शुरू हो जाते हैं जिनमें उनके माता-पिता उन्हें जोत देते थे और कानून तथा रिवाजों की तमाम ताक़तें उन्हें उसी में कैद रखती थीं, फिर भी एक किस्म की प्रतिभा स्त्रियों में मौजूद रही होगी। कभी-कभी कोई ऐमिली ब्रोंटे या कोई राबर्टवन्स धधक उठती है और उनकी मौजूदगी यह प्रमाणित करती है...बहरहाल जब भी मैं पढ़ती हूं कि कोई डायन (स्त्री) पानी में डूब गई या किसी औरत पर प्रेतात्मा सवार हो गई या कोई बुद्धिमान महिला जड़ी-बूटी बेचती थीं तो मुझे लगता है हम किसी बरबाद उपन्यास लेखिका, किसी कवयित्री को देख रहे हैं एडवर्ड फ्रीटेजरान्ड ने कहा है कि वह कोई स्त्री ही रही होगी जिसने जाड़े की लंबी रातों में अपने बच्चों को चरखी से फुसलाते हुए उसके कानों में गुनगुनाते हुए लोकगीतों को जन्म दिया होगा!

(*अपना कमरा*, पृष्ठ 57)

उपर्युक्त संवेदनात्मक तर्कपूर्ण नारी-विमर्श में जहां हमें सोलहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं सदी की नारी की त्रासद एवं अवसादपूर्ण गाथा का पता चलता है वहीं जाने-अनजाने लेखिका के मानसिक उद्वेग एवं आत्महत्या के कारणों का भी संकेत मिलता है। ज्ञात हो कि वुल्फ़ ने स्वयं मानसिक विक्षिप्तता के दंश को आजीवन झेला और अंत में आत्महत्या की थी। उनकी पुस्तक में भी बुद्धिमान महिलाओं की मानसिक विक्षिप्तता एवं आत्मबलिदान की बात अनेक स्थानों पर चिन्हित की है।

यौन-शुचिता के संदर्भ में

वुल्फ़ स्त्री-यौन-शुचिता को पुरुष द्वारा आरोपित मानती हैं और इसे स्त्री की प्रगति में एक भारी रुकावट के रूप में देखती हैं। वे कहती हैं–"पता नहीं क्यों कुछ समाजों ने स्त्री यौन-शुचिता को पूजा की वस्तु बना डाला, जो आज तक बनी हुई है। इस मानसिक ग्रंथि वाली परंपरा से मुक्त होना स्त्री के लिए अति साहस का काम है। लेखिका का कथन है कि 19वीं सदी के दौर में भी यौन-शुचिता की ग्रंथि के कारण स्त्री बहुत से मुद्दों में अनाम रहना चाहती है। वह कला, साहित्य, संगीत, विज्ञान किसी भी क्षेत्र में आगे नहीं बढ़ना चाहती। इस प्रकार वह एक सामाजिक रूढ़ि को जीवन भर श्रद्धांजलि अर्पित करती रहती हैं। दूसरी ओर एक अंग्रेज़ एक तरुण नीग्रो स्त्री को पत्नी के रूप में न चाहने के बाद भी स्वीकार कर लेता है तथा अपनी रुचि को अभिव्यक्ति भी दे सकता है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो सामाजिक चलन का दबाव स्त्री को स्वतंत्र रूप में कार्य नहीं करने देता वह चाहे लेखन हो या अन्य कोई कार्य। अपने व्याख्यान के अंतिम दौर में लेखिका यह बताने का प्रयास करती हैं कि स्त्री-पुरुष लिंगभेद की असमानता स्त्री-पुरुष के मस्तिष्क में रहती है। वे स्त्रियों को अपने सतीत्व के प्रति सजग रहने की सलाह देती हुई कहती है कि महान कलाकार व प्रतिभाएं उभयलिंगी होती हैं। अतः हर स्त्री को अपने भीतर के पुरुष से संवाद करना चाहिए, उसे पुरुष के अनुकरण में अपनी रुचियां नहीं बदलनी चाहिए। उदाहरणार्थ–"स्त्री फुटबाल खेल सकती है किंतु यदि उसकी रुचि कविता लिखने में है तो उसे कविता ही लिखनी चाहिए, महज़ पुरुषों की नक़ल में उसे फुटबाल नहीं खेलनी चाहिए"। वे कहती हैं–"जब कॉलरिज ने कहा था हर महान मस्तिष्क उभयलिंगी होता है तो उसका यही तात्पर्य था। इन अर्थों में शेक्सपियर उभय लिंगी था। वे स्त्री-पुरुष के अंतर्विरोधों के विश्लेषण के बाद भी पुरुषों को वर्ग शत्रु के रूप में चिन्हित नहीं करतीं। साथ ही प्रारंभ से लेकर अंत तक आर्थिक सुविधाओं और आर्थिक आत्मनिर्भरता पर बल देती दृष्टिगत होती हैं। वे कहती हैं (पाठक) आप पिछले सौ वर्ष की काव्यात्मक उपलब्धियों पर दृष्टि डालें कोलरिज वर्डसवर्थ, बायरन, शैली, कीट्स, टेनिसन, ब्राउनिंग, एनल्ड बोरिस, रोसिटी इन सबने कीट्स रोसेटी, बायरन को छोड़कर शेष सभी विश्वविद्यालय में पढ़े थे। इनमें कीट्स सर्वाधिक ग़रीब था जो युवा अवस्था में ही मर गया। इसका क्या कारण है?

यह एक कठोर सत्य है कि काव्य प्रतिभा को भी अवसर की उपलब्धियों का मुंह जोहना पड़ता है। पिछले सौ वर्षों में ग़रीब कवियों को जीने के अवसर नहीं प्राप्त हुए। वे प्रतिभाशाली थे, मर-खप गए। वह कहती है–"ब्राउनिंग के पास अच्छा-ख़ासा पैसा था, तभी वह 'साउल' था *रिंग ऑफ़ द बुक* लिख सका। इसी प्रकार रस्किन के पिता ने यदि अपने व्यवसाय में भारी मुनाफ़ा न कमाया होता तो वह *माडर्न पेंटर्स* न लिख पाया होता।" उनका कहना है स्त्रियों को तो ख़ासतौर पर आर्थिक समस्याओं से जूझना पड़ता है, उन्हें स्त्री होने के कारण समाज में समान अवसर नहीं प्राप्त होते। यही कारण है कि स्त्रियां अपनी क्षमताओं के बावजूद भी सफल कवयित्री या लेखिका के रूप में दिखाई नहीं देतीं।

अपने व्याख्यान के अंत में वे लड़कियों को सलाह देती हैं कि उन्हें एक दूसरे से प्रेम करना चाहिए। अपने वर्ग से प्रेम करना चाहिए। जहां तक आर्थिक महत्त्व का प्रश्न है यह हर देशकाल में हर व्यक्ति के लिए महत्त्वपूर्ण होता है। किंतु लेखक या कवि, जो अपनी संपूर्ण मानसिक क्षमताएं साहित्य सृजन में लगा देता है, उसका आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होना अति आवश्यक है। लेखिका इसी बात को बार-बार कहना चाहती हैं। हिंदी साहित्य में तो यह परंपरा बन गई है कि हिंदी लेखक या कवि अपने अभावों के कारण मृत्यु के बाद ही मान्यता प्राप्त कर पाता है।

वुल्फ़ के मूर्त रचना-संसार में प्रवेश करना सरल नहीं है। अपने अध्ययन कक्ष से निकलने के बाद पेड़ की एक सूखी गिरती हुई पत्ती को अपलक निहारने वाली एवं उसमें अपने निजी जीवन से लगाकर नारी वर्ग के जीवन का अवसादपूर्ण सौंदर्य तलाशने वाली इस विदुषी महिला के बारे में, जो

पृष्ठ 49 पर जारी

अवधी लोकगीतों में नारी संवेदना

अरुण कुमार वर्मा

मनुष्य के उद्‌भव के साथ ही लोकगीतों की उत्पत्ति की संकल्पना सच प्रतीत होती है। वैदिककाल में जिन लोकगाथाओं का उल्लेख मिलता है वे ही लोकगीत की पूर्व प्रतिनिधि कही जा सकती हैं। महाकवि कालिदास ने *रघुवंश* में स्त्रियों के गीतों का उल्लेख किया है। लोकगीत सीधे जनता के संगीत हैं यह लोच ताज़गी और लोकप्रियता में शास्त्रीय संगीत से भिन्न हैं जो आज भी जीवन नियमों की जकड़ में नहीं बंधे हैं।

लोकगीतों की धारा अबाध गति से आज भी प्रवाहित हो रही है। विभिन्न क्षेत्रों, बोलियों और जातियों के अलग-अलग लोकगीत हैं जिसे स्त्री और पुरुष दोनों के द्वारा गाया जाता है। वास्तविक गीत देश के देहातों में मिलते हैं जिनके हर क्षेत्रों के अपने-अपने विद्यापति हैं। देश में अनंत संख्या स्त्री गीतों की है जिन्हें वे ही रचती और गाती हैं। देश में अन्य बोली-भाषाओं की तरह अवधी में भी लोकगीत की परंपरा विद्यमान है जिसकी परिणति संस्कार गीत (सोहर, अन्नप्राशन, मुंडन, जनेउ गीत), विवाहगीत (मंडप छावन, अगवानी, भाती खिलाने, गारी, द्वार पूजा, पांव पुजाई, सिंदूरदान, लावा परछने के गीत, भांवर के गीत, बाती मिलाई, बड़हार, ज्योनार, विदाई गीत), ऋतुगीत (कजली, हिंडोला, बारामासा, फगुआ, चैता), जाति गीत (कहरवा, बिरहा, धोबिया, नाइयों के गीत), श्रम गीत (रोपनी, निरहवी, कटनी, कोल्हू, जांत गीत) और देवी-देवताओं के गीतों के रूप में देखा जा सकता है।

> *नारी आदिकाल से ही विभिन्न बंधनों की परंपरा से जकड़ी हुई है जिसकी अभिव्यक्ति सिर्फ़ लोकगीतों में ही नहीं आदिकालीन साहित्य नरपतिनाल्ह के* बीसल देव रासो *में भी देखने को मिलता है।*

अवधी के लोकगीतों का विस्तार उत्तर प्रदेश के लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली, सीतापुर, हरदोई, लखीमपुर, बाराबंकी, फ़ैज़ाबाद, गोंडा, बहराइच, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, इलाहाबाद, फतेहपुर, मिर्ज़ापुर और जौनपुर के पश्चिमी हिस्से तक है। अवधी भाषा का साहित्य हिंदी साहित्य जगत में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस भाषा ने तुलसीदास और जायसी जैसे दो महान व्यक्तित्व हिंदी साहित्य को दिए हैं।

लोकगीत ने कविता और संगीत दोनों को प्रभावित किया है। आज जहां फिल्म संगीत में लोकगीत की धुनों को महत्त्व दिया जा रहा है वहीं कवियों ने भी लोकगीतों की मान्यताओं और परंपराओं को स्वीकार किया है। अवधी के लोकगीत की एक पंक्ति देखिए जिसे तुलसीदास और मैथिलीशरण गुप्त ने उसके मूलरूप को कविता में स्थान दिया है–

गोरकू त हउए मोरे भाई जी क पुतवा
सवरू ननद जी क भैया।
सहज सुभाय तन गोरे। नाम लखन लघु देवर मोरे।।

–तुलसीदास

शुभे तुम्हारे कौन उभय से श्रेष्ठ हैं?
गोरे देवर श्याम उन्हीं के ज्येष्ठ।

–मैथिलीशरण गुप्त

अवधी के लोकगीतों में नारी संवेदना के संदर्भ में यह विचारणीय है कि लोकगीत ही ऐसा प्लेटफार्म था जहां नारी अपने-आप को स्वतंत्र रूप में अभिव्यक्त कर पाती थी। वैदिक काल ज़रूर नारी महत्त्व का काल था लेकिन मध्यकाल में नारी का वह स्थान क़ायम नहीं रह सका। यहां तक की मीराबाई जैसे व्यक्तित्व को भी सामाजिक और पारिवारिक अवहेलना के दौर से गुज़रना पड़ा। यही कारण है कि लोकगीतों में नारी का दुख-दर्द व्यक्त हुआ है। ज्यादातर लोकगीत उत्सव के अवसर पर ही गाए जाते हैं। खुशनुमा माहौल लोकगीतों में होता है। उसके संकोच का बांध टूट पड़ता है और हंसी-मज़ाक के वातावरण में अपने दर्द को व्यक्त कर मन का बोझ हल्का होता है और स्त्रियां समाज के द्वारा ग़लत ठहराए जाने से भी बचती है क्योंकि वे ऐसी दहलीज़ पर होती हैं जहां न अपने पिता के घर की बुराई कर सकती हैं और न ही पति के घर की। पं. रामनरेश त्रिपाठी द्वारा संकलित अवधी के संस्कार गीत 'सोहर' का एक उदाहरण देखिए जिसमें समाज की उस मान्यता का ज़िक्र किया गया है जहां धनबल से लड़की के महत्त्व को आंकने की परंपरा को दर्शाया गया है–

सुखिया दुखिया दोनो बहिनिया
दोनों बधवा ले आई, हो राजा बीरन।
सुखिया ले आई गुजहरा गोड़हरा
दुखिया दूब के कड़ा, हरे राजा बीरन।
सुखिया जे पूछे अपने बीरन से
बिदा करौ घर जाई, हरे राजा बीरन।
लेहु न बहिनी कोंछ भर मोतिया
सैंया चढ़न का घोड़ा हरे, राजा बीरन।
दुखिया जे पूछे अपने बीरन से
बिदा करौ घर जाई, हे राजा बीरन।
लेहु न बहिनी कोछ भर कोदव
उहै दूब का पैंड़ा, हरे राजा बीरन।

लोकगीत मूलतः गांवों के गीत हैं जिसमें ग्रामीण संवेदना कूट-कूट कर भरी होती है। भारत की अधिकांश आबादी गांवों में बसती है और आज भी कई रूपों में वह धारणा विद्यमान है, जो प्राचीनकाल से चली आ रही है। विवाह के समय के विभिन्न कर्मकांड और इससे संबंधित गीतों का प्रचलन आज भी देखने को मिलता है। विवाह के कर्मकांड के गीतों में नारी की संवेदना व्यक्त होती है। उसे अपने-आप को पराई समझे जाने का दर्द असहनीय है जिसका उदाहरण विवाह गीत में देखने को मिलता है। धर्मशास्त्रों में भी उसे पराई बताया गया है–'विवाहात सप्तम पदे' (सप्तपदी के बाद कन्या पराई हो जाती है।) विवाह गीत में इस संवेदना का चरम देखिए–

जब लगि आए सातवीं भांवरि
बाबा अब मैं पराई।

गवना के गीत का उदाहरण देखिए जिसमें लड़की के विदा होते समय का कारुणिक दृश्य कितना मार्मिक और संवेदनशील है–

भितरे बैठि गोहरावै मइया
अंचरा म पोंछै आंसू
मोरी बेटी आजु चली है परदेशवा
कोखिया भई मोरी सूनी
सभवा बैठि के रोवै बाबा
पटके म पोछैं आंसू
आजु मोरी बेटी चली ससुरिया
भवन भए मोर सून।

लड़की के पराई होने का दर्द सिर्फ विवाह गीत में ही देखने को नहीं मिलता अन्य गीतों में भी इस दर्द की अभिव्यक्ति हुई है। आज भी गांवों में यह धारणा विद्यमान है जितना ध्यान हम बेटे पर देते हैं उतना बेटी पर नहीं दे पाते हैं क्योंकि वह पराई है। 'हिंडोले' के एक गीत का उदाहरण देखिए जिसमें लड़की अपने पिता से कहती है कि ऐ बाबा! नीम का पेड़ मत काटिए क्योंकि वह चिड़ियों का बसेरा है और बिटिया भी चिड़ियों की भांति होती है। चिड़िया प्रातःकाल उड़ जाएंगी और नीम खड़ी की खड़ी रह जाएगी–

बाबा निमिया के पेड़ जिनि काटेउ/निमिया चिरइया बसेरा/ बलैया लेऊं बीरन /बाबा बिटिया जिनि कोउ दुख देई/ बिटिया चिरइया की नाई/ बलैया लेऊं बीरन/ सबेरे चिरइया उड़ि-उड़ि जइहई/ रहि जइहैं निमिया अकेली/ बलैया लेऊं बीरन/सबेरे बिटिया जइहैं सासुर/रहि जइहई माई अकेलि/ बलैया लेऊं बीरन।

अवधी लोकगीतों में श्रम संबंधी गीतों का भी खूब प्रचलन है। इन गीतों को महिलाएं समूह में कार्य करते समय गाती हैं। ये गीत जहां उन्हें थकान का एहसास नहीं होने देते वहीं भावना को व्यक्त करने का माध्यम भी साबित होते हैं। इन गीतों में रोपनीं, निहवही, कटनी और जांत के गीत प्रमुख हैं। रोपनी के गीत का चित्रण देखिए जिसमें कामकाजी महिलाओं के असहनीय कामों के बोझ का ज़िक्र हुआ है–

जहिया से आयो पिया तोहरी महलिया
रतिया दिनवा करौ टहलिया रे पियवा
देहिया झुरानी मोरी करत टहलिया
सपना में सुख के सपनवा रे पियवा
बखरी के हरा तुहैं जोत्या राति दिनवा
तबहूं न भर पेट भोजनवा रे पियवा।

लोकगीत कई सामाजिक विडंबना को प्रदर्शित करते हैं। ये गीत महिलाओं द्वारा समाज के प्रति सूक्ष्म विद्रोह हैं। शायद यह सामाजिक विडंबना विधि द्वारा नारी के सृजन की ही विशेषता है जिसे तुलसीदास जी ने भी स्वीकार किया है–

कत विधि सृजी नारि जग माहीं। पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।

आज के मशीनी युग में जांत चलाने का कार्य अब समाप्त है लेकिन कुछ समय पहले स्त्री के दैनिक कार्यों में जाता चलाना अनिवार्य कार्य था। सुबह चार बजे उठकर स्त्रियां पिसाई का कार्य करती थीं। हर कठिन कार्य को स्त्रियां गाकर करती हैं। आज जांता तो नहीं चलता लेकिन उनके गीत अवधी समाज में आज भी विद्यमान हैं। जांत के गीत का एक उदाहरण देखिए–भाई, बहन की ससुराल गया है। भोजन करते समय बहन के कष्टों को देखकर भाई की आंखों से आंसू की धार बहने लगती है। उसे देखकर बहन की व्यथा देखिए–

जेवन बइठे सार बहनोइया
सरवा के चुवै अंसुइया हो रामा।
किया मोरे भइया तिरिया सुधिया आई
किया समझया माइया के कलेउआ हो रामा।
नाही मोरी बहिनी हो तिरिया सुधिया आई
नाहीं समझाया मइया के कलेउआ हो रामा।
सोनवा त जरै बहिनी सोनरा दुकनिया
बहिनी जरथीं ससुररिया हो रामा।

भाई के इस कथन पर बहन उससे कहती है कि मेरे इस दुख को माता-पिता या गांव वालों से मत कहिएगा। ऐ भाई! मेरी इस विपत्ति की गठरी को गंगा और यमुना की धारा में फेंक दीजिएगा जिससे परिवार के किसी व्यक्ति को कष्ट न हो और जग में हंसाई भी न हो। बहन का यह वक्तव्य भारतीय नारी का वक्तव्य है जो सारे दुखों को पीकर परिवार की खुशी चाहती है–

ई दुख जिनि कह भइया बाबा के अगवां
सभवा बैठि पछतइहीं हो राम।
ई दुख जिनि कह भइया मइया के अगवां
छतिया पीटत मरि जइहई हो राम।
ई दुख जिनि कहा भइया बहिनी के अगवां
नहीं उ गवनवा न जइहई हो राम।
ई दुख जिनि कहा भइया भौजी के अगवां
राम रसोइयां बोलिया बोलिहई हो राम।
ई दुख जिनि कहा भइया गउंआ के लोगवा
झगरा करत तनवा मरिहई हो राम।
हमरी ई विपत्ति क गठरिया मोरे विरना
गंगा जमुना बीचे छोरा हो राम।

अवधी क्षेत्र के समाज में स्त्रियों की एक प्रमुख संवेदना प्रिय के साथ न रह सकने की है। यह सामाजिक अवधारणा आज भी विद्यमान है कि पति जीविका के लिए अकेले ही शहर जाता है और पत्नी की यह इच्छा हमेशा रहती है कि वह भी पति के साथ ही रहे लेकिन सामाजिक मान्यताओं की रक्षा में अपनी इच्छा को अंदर ही दबाकर रह जाती है। इस मान्यता का ज़िक्र करते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने *हिंदी साहित्य का इतिहास* में निम्न पंक्तियों का हवाला दिया है–*आगि लाग घर जरा बड़ा सुख कीन्हि/पिय के हाथ घइलवा भरि-भरि दीन्हि।।*

समाज की इस मान्यता को नारी संकोचवश तोड़ नहीं पाती परंतु उसकी यह दमित भावना लोकगीत में जीवित हो उठती है। लोकगीत का एक उदाहरण देखिए जिसमें जब वह रूढ़ियों को तोड़ नहीं पाती तो असहाय होकर कह उठती है कि उस शहर पर वज्र टूट पड़े और शहर ही नष्ट हो जाए जिससे उसके पति को परदेश ही न जाना पड़े–

ई रेलिया बैरन पिया क लेहे जाई रे
जवने टिकटवा पे पिया मोर जइहैं
बरसई पनिया टिकट गलि जाई रे।
जवने शहरवा के पिया मोर जइहैं
लागई अगिया शहर जरि जाई रे

पृष्ठ 40 पर जारी

सहजोबाई की दार्शनिक चेतना

दिवाकर गरवा

हिंदी संत काव्य परंपरा का विकास अनेक पंथों और संप्रदायों के माध्यम से हुआ जिनका उल्लेख आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने *उत्तरी भारत की संत परंपरा* नामक ग्रंथ में किया है। इसी ग्रंथ में चरणदासी संप्रदाय के अंतर्गत सहजोबाई का भी उल्लेख मिलता है। वैलवीडियर प्रेस इलाहाबाद ने सन् 1975 में सहजोबाई की संपूर्ण वाणियों का प्रकाशन *सहजोबाई की वाणी* शीर्षक से किया था जिसमें उनकी *सहज प्रकाश* सोलह तिथि निर्णय, सातवार निर्णय एवं मिश्रित पद आदि रचनाएं संग्रहित हैं। राजस्थान में मीराबाई, सहजोबाई, दयाबाई और ताजबीबी का भक्त कवयित्रियों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। रीतिकाल में यहां संत परंपरा प्रचलित रही थी। हिंदी साहित्य के इतिहास में राजस्थान के जिन संत संप्रदायों का उल्लेख है उनमें लालपंथ, दादू पंथ, ग़रीब पंथ, दरियाव संप्रदाय, रामस्नेही संप्रदाय, विष्णोयी संप्रदाय एवं चरणदासी संप्रदाय आदि प्रमुख हैं। इन संप्रदायों के संत कवियों पर कबीरदास जी की वाणियों का गहरा प्रभाव था। संत कवियों ने अपने आत्मानुभव के आधार पर काव्य-साधना की एवं मानव-मर्ध को व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित किया। उन्होंने धार्मिक संकीर्णता और जाति-पाति का विरोध किया। संत कवियों ने गुरु महिमा, नाम स्मरण, सत्संगति एवं सहज साधना आदि का विस्तार से वर्णन किया है। संत कवियों की भाषा सधुक्कड़ी और शैली लाक्षणियता से युक्त है। उन्होंने अन्योक्ति, रूपक और प्रतीकों का सहारा भी लिया है जिसके कारण उनकी वाणियां उलटबांसी-सी प्रतीत होती हैं।

> *सहजोबाई का चिंतन और विश्लेषण गूढ़ होते हुए भी सहज है। उन्होंने अपनी वाणियों के माध्यम से ब्रह्म और जीव में समन्वय स्थापित करने का संदेश दिया है। उनका दार्शनिक चिंतन व्यावहारिक है और वह व्यक्ति को सहज भाव से जीने की प्रेरणा देता है।*

संत चरणदास ने इस संप्रदाय की स्थापना राजस्थान के अलवर नगर के निकट अपने डेहरा नामक ग्राम में संवत् 1780 के आसपास की थी। प्रेम, करुणा, त्याग और मैत्री के माध्यम से इन्होंने समाज को जोड़ने का प्रयास किया। डा. पीतांबरदत्त बड़थ्वाल के शब्दों में, "चरणदास के बहुत से शिष्य थे जिनमें से बावन शिष्यों ने अलग-अलग स्थानों पर चरणदासी मत की शाखाएं स्थापित की जो आज भी हैं।"(1) चरणदास के शिष्यों में सहजोबाई एवं दयाबाई प्रमुख थीं जिन्होंने इस संप्रदाय के प्रचार-प्रसार के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया एवं आगे चलकर संत कवयित्रियां बनीं। सहजोबाई का जन्म भी डेहरा ग्राम में संवत् 1780 के आस-पास हुआ था। सहजोबाई प्रारंभ से ही तत्वान्वेषी साधिका तथा दार्शनिक चिंतक थीं। काव्य-साधना के क्षेत्र में उन्होंने अपने गुरु वरणदास जी को भी पीछे छोड़ दिया था। मीराबाई की भक्ति भावना एवं काव्य साधना का उन पर गहरा प्रभाव था। मीरा की तरह सहजोबाई प्रेम दीवानी थी और इसी कारण उनका काव्य माधुर्यभाव से ओत-प्रोत है। कुछ विद्वानों ने इनका जन्म संवत् 1800 के आसपास माना है जो तर्कसंगत नहीं है क्योंकि संवत् 1800 में तो इन्होंने *सहज प्रकाश* की रचना ही की थी जिसका उल्लेख इस ग्रंथ की पुष्पिका में किया है। यथा–

फाग महीना अष्टमी, सुकल पाख बुधवार।
संवत अठारे सै हुते, सहजो किया विचार।।
गुर अस्तुति के करन कूं, बादयौ अधि हुलास।
होते-होते हो गई, पोथी सहज प्रकास।।

सहजोबाई की आस्था और निष्ठा को देखकर चरणदास (गुरु) ने उन्हें अष्टयोग साधना का उपदेश दिया था। गुरु के प्रति सहजोबाई के मन में अगाध निष्ठा थी। सहजोबाई गुरु-वंदना में कहती हैं–

सब परबत स्याही करूं, घोलूं समुंदर जाय।
धरती का कागज करूं, गुरु अस्तुति न समाय।।

दोहा-चौपाई शैली में रचित *सहज प्रकाश* कृति सहजोबाई की प्रसिद्धि का मुख्य आधार है। इस कृति में 29 अंग (वर्ण्य-विषय) हैं जिनमें सतगुरुमहिमा का अंग, गुरु-विमुख, गुरु-शब्द, साधु लक्षण, जन्म दशा, मृत्यु दशा तथा निर्गुण-संशय निवारन भक्ति का अंग आदि प्रमुख हैं। दोहा और कुंडलियां छंद में रचित सोलह तिथि निर्णय लघु रचना है जिसमें सहजोबाई ने चरणदासी संप्रदाय के गुरु सुकदेव तथा चरणदास की स्तुति एवं ज्ञान भक्ति योग का वर्णन किया है। ग्रंथ के अंत में लिखा है–

सोलह तिथि पूरन भई, सहजौ करि बखान।
चरणदास की दया सूं, मिटौ सकल अज्ञान।।
लिखै पढ़ सुनै प्रीत सू, ताको पाप नसाहि।
और ऐसा करनी करै, मुक्ति रूप है जाहि।।

'सात वार' लघु काव्य-रचना में कवयित्री ने दोहा, कुंडली छंद में सात वारों का वर्णन ज्ञान और भक्ति का विश्लेषण किया है। कवयित्री ने सुंदर रागों में लगभग चालीस पदों की रचना मिश्रित पदों में की है। ये पद ज्ञान, भक्ति, योग और दर्शन से संबद्ध हैं। इससे सिद्ध होता है कि उन्हें ज्ञान और दर्शन के अतिरिक्त संगीत का भी ज्ञान था। उनकी वाणी में संत संप्रदाय के सिद्धांतों का प्रकाशन हुआ है। चरणदास जी उनके ममेरे भाई थे जिनके प्रति उनके मन में अगाध श्रद्धा थी। सहजोबाई की रचनाओं में सहज ज्ञान, सहज समाधि, सहज कर्मयोग एवं सहज भाव साधना का योग था।

'दर्शन' शब्द की उत्पत्ति 'दृश' धातु में 'ल्यूट' प्रत्यय लगने से हुई है जिसका अर्थ है–जिसके द्वारा देखा जाए। जो आंखों से नहीं देखी जा सकती उसके लिए सूक्ष्म दृष्टि अर्थात दर्शन की आवश्यकता पड़ती है। उपनिषदों और अन्य शास्त्रों में इसका सर्वत्र प्रयोग हुआ है। माया के आवरण से सत्य का मुख ढका हुआ है। जब यह आवरण हट जाएगा तो सत्य रूपी ब्रह्म के दर्शन हो जाएंगे। आज के युग में यह कथन अत्यंत प्रासंगिक है। दर्शनशास्त्र के अंतर्गत आत्मा-परमात्मा एवं जीव-जगत आदि पर विस्तार से विचार किया गया है। कवयित्री की वाणियों में दार्शनिक तत्वों का विवेचन सर्वत्र हुआ है

जिनमें ब्रह्म, जीव जगत और माया आदि प्रमुख हैं। ब्रह्म से संपूर्ण जगत की उत्पत्ति हुई है। इसे 'सच्चिदानंद' भी कहा जाता है। 'सत्' का अर्थ है-सर्वोपरि। 'चित्त' का अर्थ है-चैतन्य और 'आनंद' का अर्थ है-दुख से परे। ब्रह्म के प्रकाश से ही सारा संसार चैतन्य है। इसी स्वरूप पर सहजोबाई ने विस्तार से विवेचन किया है। सहजोबाई का ब्रह्म आकार, निराकार, निर्गुण और सगुण आदि से ऊपर है। इसीलिए वे कहती हैं-

रूप बरन वा के नहीं सहजो रंग न देह।
मीत इष्ट वा के नहीं, जाति पांति नहिं गेह।।
निराकार आकार सब, निर्गुन और गुनवंत।
है नाही सूं रहित है, सहजो यो भगवंत।।
कहा कहूं कहा कहि सकूं अचरज अलख अभेद।
सुने अचम्भो सो लगै, सहजो ब्रह्म अलेख।।

संसार में जीव की प्रधानता है और वह सब कर्मों में भाग लेता है। वह कर्त्ता और ज्ञाता दोनों है। सुख और दुख दोनों की अनुभूति जीव को ही होती है। ब्रह्म और जीव दोनों अभिन्न हैं। कवयित्री ने इन दोनों की अपनी वाणियों में सर्वत्र व्याख्या की है। सहजोबाई ने ब्रह्म को सत्य और जगत को मिथ्या माना है। उनके मतानुसार ब्रह्म सत्य है और वही जगत के रूप में दिखाई देता है। जगत के संबंध में उन्होंने सहज भाव से कहा है-*झूठा नाता जगत का, झूठा है घर बास/यह रूप झूठा देखकर, सहजो भई उदास।।*

माया के प्रभाव से व्यक्ति सब कुछ भूल जाता है। मोह का कारण माया है। माया अस्थाई है। कबीर ने उसे 'ठगनी' कहा है। सहजोबाई ने माया के संबंध में कहा है-

ऐसे मूरख बावरे, भौंदू मुग्ध गंवारन।
सहजो कहै सहजिया, भरमै बारम्बार।।

आत्मा के वास्तविक स्वरूप के ज्ञान को 'मोक्ष' कहा जाता है। ज्ञान की प्राप्ति के बाद दुख का आभास समाप्त हो जाता है। दुख का कारण मिथ्या, माया और अभिमान ही है। इन सबका जब प्रभाव समाप्त हो जाता है तो मनुष्य ब्रह्म में लीन हो जाता है। मोक्ष मूलतः जीव की आनंदमय अवस्था कहलाती है। इस संदर्भ में सहजोबाई ने कहा है-

काम क्रोध लोभ मोह मद, तजि भज हरि को नाम।
निस्चै सहजो मुक्ति है, लहै अमरपुर धाम।।

सहजोबाई का चिंतन और विश्लेषण गूढ़ होते हुए भी सहज है। उन्होंने अपनी वाणियों के माध्यम से ब्रह्म और जीव में समन्वय स्थापित करने का संदेश दिया है। उनका दार्शनिक चिंतन व्यावहारिक है और वह व्यक्ति को सहज भाव से जीने की प्रेरणा देता है। मीराबाई की तरह सहजोबाई माधुर्य भाव की कवयित्री हैं। वे निर्गुण होते हुए भी गुणों से युक्त हैं। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है-

निराकार आकार सब, निगुन और गुनवंत।
है नाहीं सूं रहित है, सहजो यो भगवंत।।

उनकी वाणी में भावों की गंभीरता के साथ काव्य तत्वों का सहज और स्वाभाविक प्रयोग हुआ है। काव्य सौष्ठव की दृष्टि से सहजोबाई की वाणी, अनुपम है जो आज भी समाज के लिए प्रासंगिक है।

संदर्भ :

1. सहज प्रकाश, सहजोबाई, पृ. 41, 2. सहज प्रकाश, पृ. 41, 3. सहजोबाई की वाणी, पृ. 47, 4. वही, 37, 5. वही 38, 6. वही, 17, 7. वही, 46, 8. वही, 31, 9. वही, 38 ❑

संपर्क : गौतमबुद्ध विश्वविद्यालय, ग्रेटर नोएडा, गौतमबुद्ध नगर (उ.प्र.)

अवधी लोकगीतों में नारी संवेदना

पृष्ठ 38 से आगे

समाज की यह विडंबना हिंदी साहित्य के कवियों में भी देखने को मिलती है। *रामचरित मानस* में राम के द्वारा सीता को वन में न ले जाने का प्रस्ताव इस सामाजिक मान्यता को बल देता है और साथ जाने का रास्ता सीता के तर्कों के द्वारा ही निकलता है-

जिय बिनु देह नदी बिनु वारि। तैसेहि नाथ पुरुष बिनु नारि।

अवधी क्षेत्र के कवि त्रिलोचन की कविता में भी इस विचारधारा के दर्शन होते हैं। इनके काव्य की चंपा द्वारा यह विचार व्यक्त हुआ है-*तो मैं अपने बालम को संग साथ रखूंगी/कलकत्ता मैं कभी न जाने दूंगी/कलकते पर बजर गिरे।*

प्रिय के साथ रहने की नारी की यह अपील हर क्षेत्र के लोकगीतों में देखने को मिलती है। प्रिय के साथ या पास रहने की उसकी लालसा सदैव बनी रहती है। अवधी के ऋतु गीतों में यह भाव अधिक मात्रा में देखने को मिलता है परंतु पतिव्रत धर्म अटूट बना रहता है-*चुके लागे मोर उमरिया, हरि जी नहिं आएनि।* नारी को अकेले आवागमन की स्वतंत्रता का प्रचलन प्राचीनकाल में कम ही रहा है। सावन में मायके जाना चाहती है तो भाई या पिताजी का इंतज़ार करती है, तो कभी सावन बीतता जा रहा है पति के पास न होने का दर्द सता रहा है। कजली का एक उदाहरण देखिए-

अरे रामा सावन बीतत जाय बलम न आए रे हरी
ठंडी-ठंडी बहै बयरिया पवन चलत पुरवैया रामा
हरे रामा कवने जतन धरू धीर पिया बिन न भावे रे हरी!

नारी आदिकाल से ही विभिन्न बंधनों की परंपरा से जकड़ी है जिसकी अभिव्यक्ति सिर्फ लोकगीतों में ही नहीं आदिकालीन साहित्य नरपतिनाल्ह के *बीसल देव रासो* में भी देखने को मिलता है। 'राजमती' की विवशता सामान्य नारी की विवशता के रूप में अभिव्यक्त हुई है-

अस्त्रीय जनम काई दीधउ महेस
अवर जनम धारइ धणा रे नटेस
राणि न सिरजीय धउलीय गाई
वणखंड काली कोइली।
भषती दाष बीजोरड़ी
इणि दुष झूरइ अवलाजी बाल।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि अवधी लोकगीत बहुत समृद्ध अवस्था में है। यह सांस्कृतिक और साहित्यिक विरासत है जिसमें हमारी वास्तविक संवेदना समाहित है। इसका बहुत बड़ा भाग आज भी गांवों में अलिखित रूप में बिखरा पड़ा है और उसके प्रचलन में भी कमी आने लगी है। इसलिए हमारी ज़िम्मेदारी बनती है कि इस अमूल्य धरोहर को संजोकर रखा जाए। ❑

संपर्क : जवाहर नवोदय विद्यालय, सिरमौर, रीवा-486448 (म.प्र.)

कॉफ़ी

मुक्ता

रेखांकन : राघवेंद्र तिवारी

कॉफ़ी ऽ ऽ ...क्या कॉफ़ी मिलेगी?

प्रश्न था जो किसी से पूछा नहीं गया था। ऊब मिटाने के लिये भी शायद नहीं था यह प्रश्न। समय बिताने के लिए भी नहीं क्योंकि ट्रेन ने अभी रेंगना ही शुरू किया था। कुछ प्रश्न ऐसे ही पूछे जाते हैं–कभी क्षण भर में असर हो जाता है कभी काल के गर्भ में बीज बन जाते हैं। बेतुके प्रश्नों का असर जल्दी होता है जैसा कि बेतुकी बातों का। गपशप का मजमा तुरंत जुट जाता है। लेकिन कॉफ़ी का मांगना निश्चित रूप से बेतुका नहीं था। सौदामिनी की बेचैनी थी जो बाहर आ गई थी।

सौदामिनी ने सामान का मुआयना किया। अटैची और बैग को सीट के नीचे के कुंडे में ज़ंजीर में फंसाकर एक साथ बांध दिया। निश्चिंतता का भाव उसके चेहरे पर पसर गया। वह खिड़की से बाहर देखने लगी। गाड़ी ने गति पकड़ ली थी।

कॉफ़ी ऽ ऽ...कॉफ़ी ऽ ऽ...कॉफ़ी ऽ ऽ ऽ

असामान्य-सी आवाज़ गूंजी। सौदामिनी ने चौंककर देखा। उसकी दृष्टि असामान्य स्वर वाले युवक के चेहरे पर अटक गई। वह लय के साथ लगातार आवाज़ लगा रहा था। उसकी अस्थिर पुतलियां शब्द के अंत में कोने में स्थिर हो जातीं। चेहरा एक कोण में अधिक झुक जाता। होंठ थोड़े और लटक जाते। हाथों की ऊंगलियां काबू में नहीं थीं। उसकी आवाज़ के साथ ऊंगलियां हथेलियों सहित अंदर मुड़तीं और धीरे-धीरे फैलने लगतीं।

सौदामिनी की भवें खिंच गईं। उसे लगा जैसे सामने बैठा असामान्य युवक उसे चिढ़ा रहा है। युवक का तेज़ संगीतमय स्वर डिब्बे के यात्रियों का ध्यान खींचने लगा। सौदामिनी अपनी मांग पर संकुचित हो उठी। क्रिया और प्रतिक्रिया के नर्तन की अब वह मूकद्रष्टा थी।

युवक की आवाज़ की कशिश थी या महज़ संयोग। एक कॉफ़ी वाला वेंडर प्रगट हुआ। युवक अपनी लटपटी जुबान में चहचहाने लगा। सौदामिनी के चेहरे का तनाव कम हुआ। उसके चेहरे पर मुस्कुराहट फैल गई। वेंडर ने कॉफ़ी युवक की ओर बढ़ाई। युवक के बग़ल में बैठी प्रौढ़ महिला का चेहरा ज़र्द हो उठा "नहीं हमें नहीं चाहिए.... इसे पीने में दिक़्क़त होती है....प्लास्टिक कप में तो राजा पी ही नहीं सकता।"



राजा का झूलता शरीर सौदामिनी की ओर संकेत कर रहा था। वेंडर ने कॉफ़ी सौदामिनी के हाथों में थमा दी। सौदामिनी ने कृतज्ञ दृष्टि से राजा की ओर देखा। राजा अति उत्साह में ताली बजाने की कोशिश कर रहा था। दोनों हाथ के मुड़े हुए पंजे हवा में झूल जा रहे थे। बिना आवाज़ के असंख्य तालियों की गड़गड़ाहट केवल सौदामिनी सुन रही थी।

"राजा... बस करो...गिर जाओगे।" युवक के होठों के नीचे चू आई लार पोंछते हुए औरत का चेहरा लाचारी से घिर गया। वह अपने आपको सांत्वना दे रही थी।

"मेरा राजा सबका ध्यान रखता है...बस शरीर से हार जाता है..."

सौदामिनी कॉफ़ी पीते हुए खिड़की के बाहरी अंधकार में डूब गई।

"कॉफ़ी ऽ ऽ" सौदामिनी ने चौंककर देखा। राजा उसके बग़ल में आ बैठा था और ख़ाली कप को घूर रहा था। सौदामिनी ने कप नीचे रख दिया।

"तुम पढ़ते हो?" सौदामिनी ने बात बढ़ाई।

"तु ऽ म पर ऽ ऽ ते ऽ हो ऽ ऽ ... " राजा ने हंसकर वाक्य दोहराने की कोशिश की। उसने अपना झूलता हाथ सौदामिनी के हाथ पर रख दिया। राजा का पूरा शरीर सौदामिनी के कंधे पर झुक आया था।

"राजा...दूर बैठो... सबको नहीं छूते बेटा...केवल मां को छूते हैं...आओ...इधर बैठो मेरे पास..." औरत ने उसे पकड़कर उठाना चाहा।

"न.. ऽ ऽ ना ऽ ऽ " राजा ज़ोर से चीख़ा। औरत सहम गई। बेबसी उसके चेहरे पर छा गई।

"कोई बात नहीं.... रहने दीजिये..." असमंजस में सौदामिनी बोल उठी।

राजा के हाथ के साथ शरीर का दबाव बढ़ता जा रहा था। सौदामिनी का पोर-पोर झनझना उठा।

"राजा... आंटी को तंग मत करो... चिप्स खाना है. .. चिप्स तुम्हें बहुत पसंद है न ...." औरत छोटे-बड़े थैलों में पूरी गृहस्थी समेटे बैठी थी।

"चिप..." राजा का ध्यान बंटते ही औरत चिप्स का पैकेट लिए दोनों के बीच में आ बैठी। राजा के चेहरे पर क्रोध के भाव स्पष्ट दिखाई दे रहे थे। वह बड़बड़ा रहा था–

"न ऽ ऽ ...न ऽ ऽ ...न ऽ ऽ "

चिप्स का टुकड़ा राजा के मुंह में जाते ही लार की धार औरत के हाथ पर चू पड़ी जिसे उसने अपने दुपट्टे से पोंछ लिया।

"राजा... तुम्हारी कोई दोस्त है... कोई गर्ल

फ्रेंड...'' स्पर्श का संप्रेषण सौदामिनी को झंकृत किए हुए था। वह राजा को आर-पार से समझना चाहती थी।

''राजा जब सबेरे मार्निंग वाक के लिए निकलता है तो सभी अपनी खिड़की से राजा को आवाज़ देते हैं।'' उत्तर मां की ओर से आया था। वह राजा को चिप्स खिलाने में मशगूल थी।

''राजा स्कूल जाता था...एक स्कूल था... ऐसे बच्चों को लेता था... राजा वहां बहुत खुश रहता था... बच्चे बहुत कम थे...लोग ऐसे बच्चों को भेजते कहां हैं इसीलिए स्कूल बंद हो गया... राजा अकेला पड़ गया...''

''न ऽ ऽ ना ऽ ऽ'' राजा की जीभ लड़खड़ा कर कोने में लटक गई। चेहरा तमतमा उठा। सौदामिनी कुछ समझ न सकी।

''नहीं...तुम अकेले नहीं बेटा..., पता नहीं जब भी मैं कहती हूं यह अकेला है यह ऐसे ही नाराज़ होता है.... सारी दुनिया इससे दूर भागती है. .. और यह सबके साथ रहना चाहता है....'' औरत राजा को संयत करने की चेष्टा करने लगी।

''राजा, तुम्हें मालूम है हम लोग कहां जा रहे हैं? हम लोग नानी मां के पास चल रहे हैं.... तुम्हें नानी मां की याद है न। सुबह तुम्हें टहलाने ले जाती थीं। एक बार पार्क में तुम खो गए थे। जब, तुम लोग नहीं लौटे, मैं तुम्हें ढूंढने पहुंची। नानी मां परेशान थीं। बहुत ढूंढने के बाद तुम एक पेड़ के नीचे एक डॉगी के साथ खेलते मिले। हमें देखते ही ताली बजाकर हंसने लगे...कैसे...ताली बजाकर दिखाओ ...'' राजा झूलते हाथों की बिना आवाज़ वाली ताली बजाता हुआ हंसा। ''ना ... नी...'' हंसी के अंदर से शब्द फूटने लगे।

''ना ऽ ऽ ऽ नी ऽ ऽ ऽ''

''हां... ना ऽ ऽ नी ऽ ऽ, हम नानी मां के पास चल रहे हैं।'' औरत ने स्वर मिलाया।

''ना ऽ ऽ... नी ऽ ऽ '' राजा ने दोहराया।

''यह किस बात पर इतना खुश हो रहा है?''

तेज़ आवाज़ ने सहयात्रियों का ध्यान खींचा। नाटे क़द का दोहरे बदन वाला आदमी दोनों बर्थ के बीच आकर खड़ा हो गया।

''इधर बैठो जी... राजा, पापा को जगह दे।'' औरत ने सहमते हुए कहा।

''मुझे नहीं बैठना तू ही इस लित्थड़ के साथ बैठ।''

''थोड़ी देर बैठो जी ... पीछे क्या सीट मिल गई है?''

''हां... सुन बैग से मेरी दवा निकाल दे।''

औरत का चेहरा झक्क सफ़ेद हो गया। राजा को छोड़ वह अपनी सीट पर चली गई और बैग के अंदर टटोलते हुए बोली–''ऐसा भी क्या है.. . एक दिन न ही सही....''

''बहस मत कर... ला ऽ जल्दी दे।''

बोतल थाम राजा के बग़ल में बैठी सौदामिनी को घूरता वह आदमी चला गया।

औरत ने सिर खिड़की पर टिका लिया। ट्रेन तेज़ भाग रही थी। बाहर गहरा अंधेरा था। दूर-दूर तक कहीं टिमटिमाती रोशनी भी नहीं दिखाई दे रही थी।

''राजा क्या जन्म से ही ऐसा है?'' ''सौदामिनी ने धीरे से पूछा।

''हां... राजा नार्मल नहीं था...''

''आपको मालूम नहीं होगा....प्रेगनेंसी में कभी-कभी डाक्टर नहीं समझ पाते हैं।''

''डाक्टर ने बता दिया था–अबार्शन न कराने का फ़ैसला मेरा था–क्या कमी है मेरे राजा में? ''औरत तमतमा उठी।

''मेरा मतलब है...'' सौदामिनी शर्मिंदा हो उठी।

''आठ साल बाद मेरी कोख हरी हुई थी–आठ साल मैंने कैसे काटे मैं ही जानती हूं... मैं इंसान कहां थी....औरत बच्चा जनने पर ही औरत कहलाती है, यही सुनती थी। ससुराल में जली-कटी सुनते कान पक गए थे। घर-मोहल्ले जहां जाओ लोग ओझा-सोखा जड़ी-बूटी न जाने कौन-कौन से टोटके बताते ... राजा का बाप बात-बात पर हाथ उठाता–दूसरे ब्याह की धमकी देता। मेरी सास जो मुझसे सीधे मुंह बात न करती...ताने मारती...पोते का मुंह देखते ही सीधी हो गई...वह कहती थी ''हवा का चक्कर है...ठीक हो जाएगा...'' वह समझ न पाई...हम भी कहां समझ पाए...इसके इलाज के लिए जा रहे हैं...आजकल इसे दौरे भी पड़ने लगे हैं...'' औरत का स्वर डूबने लगा।... ''मैं तो एक कठपुतली थी...क्या मैं फ़ैसला लेने की हालत में थी...कैसे ले सकता है कोई सही फ़ैसला...जब वह दरिंदों से घिरा हो...यही है औरत की ज़िंदगी...''

डब्बे में रोशनी कम हो गई। ट्रेन की गति धीमी होने लगी। अचानक ट्रेन सुनसान बियावान में रुक गई। ऊंघते लोग सजग हो गए। ''चेन पुलिंग हुई है...नहीं क्रासिंग है।'' फुसफुसाहटें आवाज़ों में बदलने लगीं। लोग कुछ समझ पाते इसके पहले ही एक युवक डिब्बे में दौड़ता हुआ दाख़िल हुआ और उसने खिड़की से सटी औरत को परे ढकेल दिया। राजा लड़खड़ाकर सीट से गिरा। युवक राजा को उठाने के लिए झुका। पीछे से राजा का बाप आ धमका। उसने युवक के गाल पर झन्नाटेदार तमाचा जड़ा और गालियां बकने लगा–''हरामज़ादे. ..सुअर की औलाद तेरी हिम्मत कैसे हुई मेरी बीवी को छेड़ने की?''

''मैंने तो इन्हें बचाया है आपको ग़लतफ़हमी हुई है। नीचे उतरकर देखिए पूरा गैंग है बालियों ज़ंजीरों पर हाथ साफ़ कर रहा है''–मैं नीचे सिगरेट पी रहा था तभी मैंने देखा एक आदमी पीठ के बल झुका था, दूसरा उसके ऊपर खड़ा होकर मैडम के कानों को निशाना बना रहा था...''

''बचाओ...बचाओ...'' बग़ल वाले डिब्बे से तेज़ आवाज़ आई। कई लोग उधर दौड़ पड़े।

गाली बकते हुए आदमी ने आगे बढ़कर युवक का कॉलर पकड़ लिया। औरत गिड़गिड़ाने लगी–''छोड़ दो जी...इसने तो बचाया है।''...

युवक ने कॉलर छुड़ाते हुए आदमी के हाथ को पंजों में कस लिया। अब एक शब्द भी बोला तो ज़बान खींच लूंगा। ट्रेन में बैठा शराब पी रहा है...ट्रेन में शराब पीना जुर्म है...अभी पुलिस बुलाता हूं...बीवी अकेले अपाहिज बेटे के साथ परेशान हो रही है...बड़ा आया बीवी वाला...'' युवक राजा के बाप को ढकेलते हुए आगे बढ़ गया।

ट्रेन ने गति पकड़ ली। बाहर तिलस्मी एहसास कराते हुए तारे टिमटिमा रहे थे। जैसे दुनिया दो भागों में बंटी हो। बाहर की शांत सुहावनी दुनिया और अंदर का चलता-फिरता गतिशील संसार। पटरियों पर दौड़ता शहर जैसे चांदनी में नहाके समुद्र में प्रवेश कर गया हो। सौदामिनी ने करवट बदल ली। ट्रेन में सब कुछ कितनी जल्दी सामान्य हो जाता है। रिश्ते जितनी जल्दी बनते हैं उतनी ही जल्दी मिट भी जाते हैं। ट्रेन की दुनिया–मानवीय तप्त स्पर्शों भरी दुनिया लेकिन अगले ही पल उतनी ही अजनबी।

''ना ऽ ऽ नी ऽ ऽ ...आ ऽ ऽ ऽ ई ऽ ऽ ऽ''

''नानी नहीं...नानी का स्टेशन...सबेरे आएगा. ..राजा अब सो जा ऽ ''

सौदामिनी की आंखों में नींद नहीं थी। आवाज़ें कानों में झनक रही थीं। राजा का चेहरा सौदामिनी की आंखों के आगे घूमने लगा। सौदामिनी को अपना पूछा प्रश्न ही आहत कर रहा था। राजा का चेहरा अर्पिता के चेहरे में बदलने लगा। जन्मते ही दिप-दिप आंखें चमकी थीं। पूरा शरीर नीला हो चुका था। अतीत के चित्र सौदामिनी की आंखों के आगे घूमने लगे। पढ़ाई के बाद उसने नवजीवन नर्सिंग होम से नौकरी की शुरुआत की। वहां की साफ़-सफ़ाई, सुचारू व्यवस्था देख वह आश्वस्त हुई थी। बहुत जल्दी ही उसका भ्रम टूट गया। उसे समझ में आ गया कि यह नर्सिंग होम नहीं क़साईबाड़ा है। यहां डाक्टर इस बात का जश्न मनाते थे कि एक दिन में उन्होंने कितनी भ्रूण हत्याएं कीं। नए डाक्टर पैदल नर्सिंग होम में आते और जल्दी ही बड़ी गाड़ियों में घूमने लगते। सौदामिनी गुमसुम रहने लगी थी। घर में अब उसके कहकहे नहीं गूंजते थे। मां के पूछने पर वह मन की व्यथा प्रगट न कर पाती। वह एक अदृश्य पिंजड़े में क़ैद थी। सौदामिनी को अच्छी तरह याद है वह दिन। नर्सिंग होम के गेट पर सुशीला घबड़ाई हुई खड़ी थी।

"सिस्टर, डाक्टर अलका आपको ढूंढ रही हैं। बेड नं. चालीस सीरियस है। जच्चा ओ टी में है। सिस्टर..."

"क्या बात है? सुशीला...बोलो..."

"कुछ न S हीं S ...आप तो जानती ही हैं. ..कहीं जच्चा न मर जाए ऑपरेशन थियेटर में घुसते ही सौदामिनी ने सुना "डाक्टर मेरी बच्ची को बचा लीजिए-डॉक्टर मैं हाथ जोड़ती हूं..."

युवती बेहोश हो चुकी थी।

"डॉक्टर एडवांस प्रेगनैंसी है। आप बच्ची को मार नहीं सकती हैं...यह ग़ैरक़ानूनी है..."

"यहां बच भी गई तो किसी और जगह मार दी जाएगी अवैध संतानों से कम ख़तरा क़ानूनी संतानों को नहीं होता। तुम केवल मेरा समय बर्बाद कर रही हो..."

"...मुझे कानून सिखा रही हो..."

"नहीं डाक्टर...यदि आपने बच्चे को मारने की कोशिश की तो मैं पुलिस को इंफ़ार्म करूंगी. ..मुझे मालूम है आपने इसके पति से मोटी रकम ऐंठी है।"

"सौदामिनी...यह आज तुम्हें क्या हो गया है. ..तुम मुझे धमका रही हो...आख़िर तुम चाहती क्या हो..."

सौदामिनी क्षण भर सोचने लगी। वह क्या चाहती है...वह सब कुछ उलट देना चाहती है... ग़लत को सही करना चाहती है आज...अभी...इसी पल से...।

"क्या चाहती हो जल्दी बोलो... कितने पैसे तुम्हें चाहिए-यह नाटक तुम पैसों के लिए कर रही हो... क्या मैं समझ नहीं रही हूं..." डाक्टर अलका के चेहरे पर कुटिलता पसर गई।

"मुझे यह बच्ची चाहिए... ज़िंदा-सुना आपने।"

सौदामिनी की आवाज़ ऑपरेशन थियेटर में गूंज रही थी। रोने की कोई आवाज़ नहीं आई। कमज़ोर बच्ची अरा-अरा करके रह गई। नवजात को गोद में उठा सौदामिनी ऐसी प्रसन्न थी जैसे पतझड़ के बाद उतर आया हो बसंत। रोम-रोम पुलकित वह मां की ड्योढ़ी पर खड़ी थी। मां तक पहुंचने के पहले ही पिता ने निष्कासन का आदेश सुना दिया। "बच्ची के साथ तुम्हारा यहां रहना संभव नहीं, तुम निर्णय लेने के लिए स्वतंत्र हो।" मां समाज की दुहाई देने लगीं। सौदामिनी ने घर छोड़ दिया। बच्चे को बांहों में समेटे वह अंधकार से टकराती रही। क्या इतना आसान है एक फ़ैसले को सही, एक को ग़लत ठहरा देना? अर्पिता एक साल की पूरी नहीं हुई थी। उसके कमज़ोर पैरों को देख वह कांप उठती थी। चढ़ाई गई दवा का असर था या बच्चे की अपनी शारीरिक बनावट। कमर से ऊपर तंदुरुस्त थी लेकिन पैर पतले कमज़ोर। सौदामिनी को बार-बार अपने फ़ैसले पर शक होता। तो क्या वह अर्पिता को मृत्यु को सौंप देती? यह कल्पना ही उसे काठ बना देती जैसे सारा रक्त निचुड़ गया हो। अर्पिता के जन्म तक कितनी ही भ्रूण हत्याओं की वह साक्षी बन चुकी थी। लेकिन एक क्षण था पृथ्वी आकाश समूची प्रकृति को झकझोरता वह पल जब सृजन की छटपटाहट उसके भीतर उतर आई थी। अंकुरण की बेचैनी ने निर्णय की भूमिका निबाही थी। उस एक क्षण वह मां थी केवल मां। जिस दिन अर्पिता ने चलना शुरू किया उसकी आंखें खुशी के आंसुओं से सराबोर थीं। नन्हीं अर्पिता की मुस्कान सौदामिनी का ऐसा संबल थी जहां तिक्त पलों की कड़ुवाहट घट जाती थी। कई पुरुषों से वह जुड़ी लेकिन वही घिसी-पिटी शर्त। अर्पिता को अलग करने की। जो उसे सहन न था। अर्पिता उसके जीवन की लय थी। सुंदर, स्मार्ट, जीवन से भरपूर। ड्रग मैन्यूफैक्चरिंग कंपनी में सीनियर केमिस्ट अर्पिता में उसे अपना प्रतिबिंब नज़र आता। अपना पुराना शहर छोड़ने के बाद वह स्वयं भी नर्सिंग स्कूल में पढ़ाने लगी थी।

सौदामिनी ने करवट बदली। घड़ी में रात के साढ़े बारह बज रहे थे। आज वर्षों बाद सौदामिनी फिर उसी बेचैनी से गुज़र रही है। अतीत की संकरी गली में जैसे फिर प्रवेश कर गई हो। क्या केवल उम्र ही बढ़ी है और सब कुछ वही है जस का तस लेकिन वह चमक राजा की आंखों की वह रोशनी...संवाद बनाने के छोटे-छोटे पुल...कॉफ़ी का आत्मीय संबोधन में बदल जाना... जीवन को पाने की ललक...यह भी तो सच है। राजा का वह स्पर्श... वह स्पंदन...विराट का एक टुकड़ा सौदामिनी ने महसूस किया है। राजा की अभिव्यक्तियों के मुखर मौन में वह डूबने लगी। राजा को वह अपने रोम-रोम में महसूस कर रही थी। बांहों का आलिंगन, होठों के तप्त चुंबन। प्रकृति की आधी-अधूरी रचना पूर्ण पुरुष में रूपांतरित हो रही थी। ऊर्जा के इस संप्रेषण को वह राजा तक पहुंचाने को व्याकुल हो उठी। काश... कुछ घट जाए....पूरा विष उतर जाए...अंग-अंग जुगनू चमके....सूर्य-रश्मियों से सजा उसका प्रिय बिना किसी सहारे के एक-एक क़दम मज़बूती से रखता उसकी ओर बढ़े...जीवन की ओर लौटे। पलकें नींद से बोझल होने लगीं। सौदामिनी सपनों में खो गई।

भोर की उजास फैल चुकी थी। सौदामिनी की आंखें खुलीं। तेज़ आवाज़ ने उसका ध्यान खींचा। "चुप कर... बड़ो चली थी मां के घर इलाज कराने... स्साला... दोगला.... तेरा भाई... पहले नहीं कह सकता था ...घर में जगह नहीं है... बड़ी औक़ात वाला है तेरा भाई... वह क्या होटल में ठहराएगा... हम खुद ठहर लेंगे... फोन करके मेहमानों का बहाना बना रहा है... तेरे... इस... लित्थड़ को कौन रखेगा अपने घर में....एक साबुत बच्चा भी न जना गया तुझसे..."

औरत माथे पर हाथ धरे बैठी थी। मर्द लगातार, बोलता जा रहा था। गाड़ी की गति धीमी होने लगी। औरत ने सामान समेटना शुरू किया। प्लेटफार्म आ चुका था। औरत ने राजा को सहारा देकर उठाया। सौदामिनी के सम्मुख राजा ठिठक गया। वह बुदबुदाया जैसे आवाज़ दे रहा हो।

"का S S फी S S" जीवन से भरपूर उसकी आंखें चमक उठीं। सौदामिनी उस रोशनी में नहा उठी। राजा के होंठ तिरछे होकर एक कोंण में झुके। मुस्कुराहट की एक लकीर तैर गई। सौदामिनी दूर तक राजा को जाते हुए देखती रही। ❑

संपर्क : बी 4/1, अन्नपूर्णा नगर कालोनी, विद्यापीठ रोड, वाराणसी (उ.प्र.)

पाठशाला जसपुर और छोटे दादा

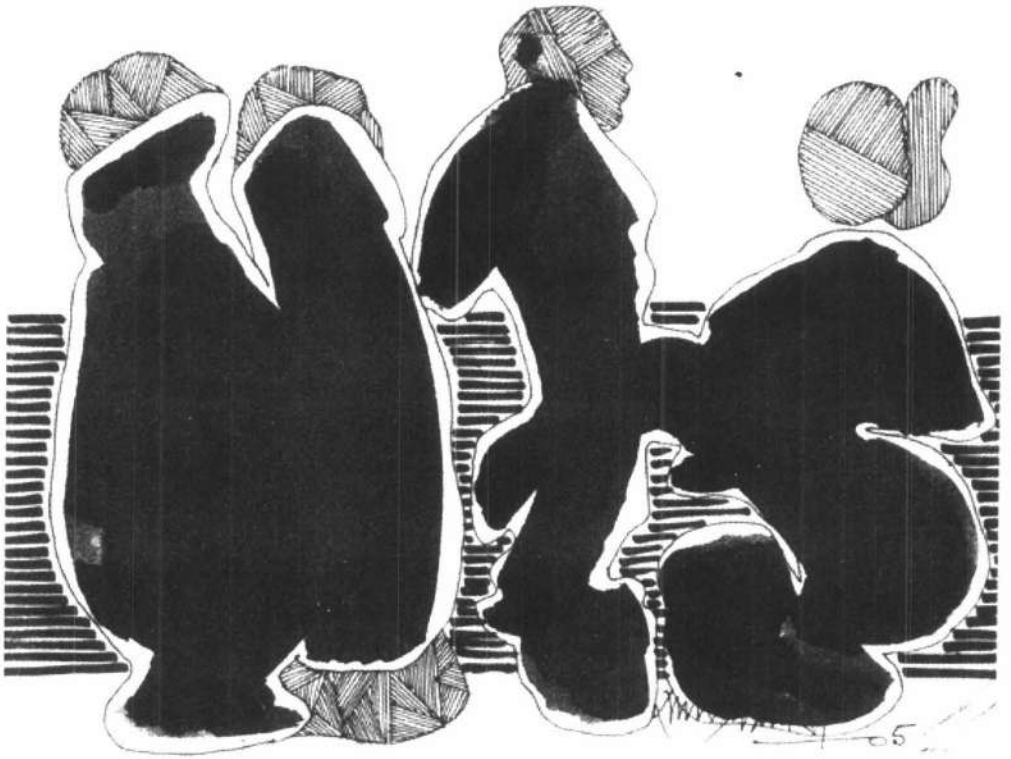
कुसुम भट्ट

रेखांकन : **राघवेंद्र तिवारी**

गांव के अंतिम छोर पर छोटे दादा का घर था। हमारे घर की दाईं बाजू में ऊंघता, मैं छोटी थी। घर वालों की नज़रें बचाकर सीढ़ियां उतरती और रास्ते में एक टांग से उछलती-कूदती पहुंच जाती थी। छोटे दादा के घर से ही दिखती थी नदी, अलकनंदा दूर हिमालय की ऊंची पिघलती पहाड़ियों से आती और हमारी पहाड़ी के नीचे घाटी में थकान उतारती, नदी देखना और लगातार देखते रहना मुझे बहुत-बहुत अच्छा लगता। इसी तरह बहुत-बहुत अच्छा छोटी गिनी को देखना भी लगता जो बिस्तर पर लेटकर छिपकली-सी हाथ-पांव मारती। उसके गोरे गुलगुल करते गाल, काले घुंघराले बाल, गोल-गोल काली चमकीली आंखें हर पल कुछ कहती रहतीं।

दादी कहती थी–"मरी कितनी तो खूबसूरत है, लड़का होती तो....दादी हम दोनों को एक-साथ देखती तो गहरी उसांस भरती–"भलो-भलो ये बार भी होगा...?" बस इसी बात पर मैं दादी से कुट्टी कर लेती और उसकी आंखों में एक मुट्ठी धूल झोंक कर दौड़ पड़ती छोटे दादा के घर, उनकी चौक घेरती दीवार पर टांगें झुलाती नदी का गीत सुनती। मुझे देखकर उनका चिड़िया की चोंच जितना मुंह खुलता। भीतर दुबकी हंसी एक ओर से झांकती जब तक मैं उस हंसी को ठीक से देख पाती वे चेहरा घुमाकर घाटी में देखने लग जाते। छोटे दादा के आंगन के आगे खड़ीक का एक ऊंचा पेड़ था। दादा हमेशा उसके पास ही बैठते। मेरी तरह उन्हें भी नदी का गीत सुनना अच्छा लगता होगा।

मैं सोचती, कभी मन करता छोटे दादा से पूछूं पर पूछ न सकी। क्या पता पूछने पर नदी गीत गाना बंद कर दे और छोटे दादा चौक की दीवार पर बैठना। भोलाराम ताऊ बंदूक वाले का घर सबसे ऊपर था। वह कहते–"गुड़िया, तेरा दादा न ज़िंदा मसाण है, तभी तो न गुड़िया, कोई नहीं बोलता उससे। तू देखना गुड़िया, तेरे छोटे दादा के चेहरे पर पत्थर लगा है।"–मैं टुकर-टुकर उनके चेहरे पर देखती।



वे फिर कहते–"तूने पत्थर को बोलते सुना है गुड़िया"? मैं 'न' कहती। वे कहते–"पत्थर किसी की आवाज़ भी सुने तो चोट मारता है। इसीलिए तो वह अलग रहता है सबसे अलग।"

पता नहीं छोटे दादा से कोई क्यों नहीं बोलता? मुझे अचरज होता कि छोटे दादा गांव में किसी से क्यों नहीं बोलते! उनके परिवार वाले भी उनसे नहीं बोलते, पर मुझे पता था छोटे दादा बकरियों की में में, बैलों की मां-मां, भैंस का अरराट, कौओं का कांव-कांव, बिल्ली की म्याऊं-म्याऊं, कुत्ते की भौंह-भौंह, चिड़िया की चूं-चूं, चह-चह सुनते तो वे किसी पर भी पत्थर न मारते।

कक्षा दस में पढ़ने वाले सुंदर चाचा उन्हें शाम के धुंधलके में अपने बर्मा में रह रहे भाई की अंग्रेज़ी में लिखी चिट्ठी पढ़ाने आते। पर छोटे दादा ने नहीं कहा कि अब लंबू स्कूल में पत्थर उठाता है वे? सुंदर चाचा बाद में हंसते। गुड़िया का खूसट दादा कक्षा दो पास अंग्रेज़ों ने डाली थी घास।" मां कहती–"छोटे दादा से गांव की कुट्टी हो गई, उन्हें गांव से फांटी (अलग) कर रखा है। तू वहां जाएगी तो तुझे भी कर देंगे फांटी" पर मैं मां की एक न सुनती। मुझे तो छोटे दादा चाचा नेहरू लगते। हंस जैसे सफ़ेद कुर्ता, पजामा, सिर पर नेहरू टोपी, दुबली छरहरी देह!

नेहरू चाचा से मेरी मुलाक़ात पिताजी ने कराई थी, देश से एक दिन ठक-ठक करते अंधेरी रात में आए थे। बोले थे–"देख, गुड़िया ये हैं जवाहरलाल नेहरू बच्चों के चाचा नेहरू।" पिताजी कहते–"देश के बड़े नेता थे। इन्होंने देश बनाया था। देख इस किताब में लिखा है"। तब मैंने लालटेन की रोशनी में पन्ने पलटे थे पर मेरे पल्ले कुछ न पड़ा। मुझे आम, अनार और झटपट (स्कूल) चल देर मतकर इतना ही आता था। पिताजी कहते–"हमारा देश यानी भारत वर्ष"।

मैंने झट से अपना बस्ता आगे कर दिया, "पिताजी मेरी किताब में, भारत माता कहां रहती है"? पिताजी ने हंसकर मेरे गाल में हल्की-सी चपत मारी थी। "भारत माता तो यहीं रहती है तेरे पास"। भारत माता नक्शे पर खड़ी रहती, उनके बग़ल में बब्बर शेर खड़ा गुर्राता "भारत माता की ओर तिरछी आंख से देखा तो चबोड़ दुंगा हूं...दांत देखे हैं मेरे...हूं"।

पिताजी कहते–"बच्चों को थोड़े न कहा होगा, उनको कहा होगा जो...." मां ने रोटी की टोकरी रख दी थी झम्म पिताजी भूल गए थे बताना आगे की बात, दादा जी कहते–"बब्बर शेर छोटे बच्चों को लड्डू देता है साल भर में दो दिन, तुम्हारी पाठशाला में भी आएगा बांटने।"

भारत माता के हाथ में तिरंगा होता, मास्टर जी कहते–"बोलो बच्चो! भारत माता की जै।" बच्चे गला फाड़कर चिल्लाते, "भारत माता की जै।" पहाड़ भी चिल्लाता 'भारत माता की जै।'

मैंने छोटे दादा से पूछा–"आप भी कहते थे भारत माता की जै।"

"दादा के होठों पर वही चिड़िया के चोंच जितनी हंसी उछली। "कहने से थोड़े हो जाती है जै, करने से होती है जै, तू करेगी गुड़िया भारत माता की जै"। मेरी आंखें छोटे दादा के नेहरू चेहरे पर ठहर जाती, वो तो मैंने स्कूल में ही कर दी थी। छोटे दादा के पत्थर चेहरे में छिपी हंसी उछलकर बाहर आने को होती। वे चेहरा दूसरी ओर घुमाते और हंसी और नीचे छुप जाती।

नदी के ऊपर पहाड़ी पर माचिस की डिब्बी जितनी मोटरें दौड़तीं। छोटे दादा कहते–"तेरे पिता के देश जा रही है मोटरें।" वापस आती कहते–"तेरे चाचा के देश से आ रही है।" उनकी बात झूठ निकली मोटरें पिताजी के देश से ही आ रही थीं। तभी तो पार्सल लाई थी। पिताजी ने भेजा था। चाचा ने तो भेजा नहीं था।

एक दिन एक मोटर नदी में गिर गई। रात को मोटर उल्टी पड़ी थी। नदी के किनारे बहुत लोग मर गए थे। दादा ने ही देखे थे। मक्खी जितने लोगों की भीड़। दस-बीस सौ-पचास इससे भी ज्यादा। गांव के लोग खेतों की मुंडेर पर खड़े होकर 'राम! राम जी! च्च-च्च' करते और नदी को कोसते–"बार-बार मांगती है बलि यह कमबख़्त नदी!"

छोटे दादा ने सुनी लोगों की बात, दादा बोले थे–"ड्रेबर ने पी थी बहुत शराब, लोगों का हो रहा है अब दिमाग़ खराब, नदी क्या करती बिचारी, बहरहाल नदी वैसी ही बहती रही। नदी में किश्तियां चलतीं। छोटी-छोटी किश्तियां। लोगों के सिर दिखाई देते। उनके चप्पू चलते हाथ भी। चप्पू चलाते नदी में लहरें उठतीं। मल्लाह गीत गाता। नदी को कहता मेरा गीत सुनेगी नदी?" नदी कहती–"सुना दो रे नाविक"। उसके हाथों में जोश भरने लगता। होंठ थिरकने लगते। गाने लगता पहाड़ी गीत–

हिरर ऽ र ऽ रे ऽ ऽ बगदी गाड
कनक्वै जाण आर-पार
चंपू हवैगी ख्वींडू
ढलकणू च डूडू....
हिर ऽ र रे रे ऽ र ....

(हर हर बहती है नदी, कैसे जाऊं आर-पार, चप्पू हो गया कठोर। देखो लुढ़क रहा है लंगड़ा)। नाव से उतरकर लोग जाने कहां ग़ायब हो जाते। छोटे दादा कहते–"अपनी मंज़िल तक जाते हैं वे. ..उन्हें डूबने का डर नहीं लगता। मैं अगला प्रश्न पूछती–"डर क्यों? जो डर गया वह पार कहां गया रे, गुड़िया! डरकर तो आदमी मर ही जाता है जैसे भोलाराम बंदूक वाला।"

"वो कैसे दादा, उनके पास तो बंदूक है इतनी बड़ी"। मैं दादा का हाथ नापती। दादा अपना हाथ छुड़ाते "तू नहीं समझ सकती छोटी है न अभी....बंदूक वही रखता है जो डरता है..."। कभी-कभी छोटे दादा की बातें मेरे पल्ले बिल्कुल नहीं पड़तीं। छोटी दादी और दोनों चाची गर्मी की दोपहर नींद की एक झपकी लेकर देहली उतर आती। हमें देखकर आंखें कपाल में चढ़ा देती। बाद में बड़ी चाची पूछती–"ये गुड़िया, तुझसे गुन-गुन क्या बोलते रहते हैं तेरे दादा? घर में तो लई चिपक जाती है उनके होठों पर।"

हमारे गांव के नीचे प्राइमरी पाठशाला जसपुर बन रहा था, लोग उसमें श्रमदान करने जाते। मां भी जाती। छोटे दादा का परिवार फांटी था। दोनों चाची अपने काम में लगी रहती। भोलाराम बंदूक वाले ताऊ ने ठेकेदार को उनसे बोलने से मना कर दिया था।

हमारे पहाड़ में दूर-दूर तक स्कूल नहीं था। बहुत दूर दूसरे न तीसरे न पांचवें पहाड़ पर एक बड़ा स्कूल था जिसमें पिताजी पढ़ने जाते थे। मैंने उसे देखा ही न था। बुआ ने भी कहां देखा था। बुआ वहां जाती तो बाघ उठाकर ले जाता उसे। तो मेरी अच्छी-सी बुआ 'झट-पट उठ पाठशाला चल से मत काम कर उठ-उठ' नहीं सीख सकी अब शादी के बाद वह देश में 'देर मत कर, अक्षर-अक्षर पढ़ सीख रही थी। दादी कहती–"पिताजी को बाघ उठाकर नहीं ले जा सकता, बाघ नहीं आ सकता बाघ सिर्फ लड़कियों को ले जाता है।" दादाजी कहते–"अब तो पाठशाला पास में हो गई। यहां बाघ नहीं आ सकता। बाघ आएगा तो बंदूक वाले भोलूराम हैं न।" मेरा नाम पाठशाला में लिखाने दादाजी गए थे।

मास्टर ने पूछा–"बच्ची का नाम"?
दादाजी ने कहा–"गुड़िया"।
मास्टर जी ने पूछा–"कितने वर्ष की है।"
दादा जी ने कहा–"चार वर्ष की।"

मास्टर जी ने रजिस्टर बंद कर दिया और मुंह बनाकर बोले थे-"तो फिर इसका दाख़िला नहीं हो सकता।"

मैं रोने लगी थी स्कूल जाना मुझे अच्छा लगता सफ़ेद निकर और गेरुए रंग की बुशर्ट में अकड़कर खड़े टीन की छत दूर से चमकती, मुझे रोता देखकर दादाजी भी रोने लगे। इसको भरती कर लो मास्टर जी वर्ना ये मर जाएगी। मास्टर जी ने दादाजी का रोना नहीं देखा। सिर्फ उनकी आवाज़ देखी जो उनके पांवों गिर रही थी। मास्टर जी ने अपनी चोटी पकड़ी जिसके नीचे ज्ञान का अकूत भंडार था। कुछ सोचा...

"आप दो माणी (किलो) घी कर देंगे चाचा जी? दादा बोले जी हां कर देंगे जी, मास्टर जी ने रजिस्टर खोला, "उम्र बढ़ानी पड़ेगी एक साल मंजूर," दादाजी ने सिर झुकाया-"मंजूर"। मैंने स्कूल छत पर उतरते सूरज को देखा-"मंजूर है न?" उसने हंसते हुए हाथ हिलाया।

घर आकर दादाजी ने कहा-"हो गई भरती भगवती की दादी।" हंसी-हंसते उसने गुड़ की भेली फोड़ी और टुकड़े गांव में बांटे। मेरी कक्षा में जसपुर का अर्जुन पढ़ता था शैतान का नाना, वह कहता-"स्कूल हमारा है।" मैं कहती-"स्कूल हमारा भी है," वह कहता-"देख यह खेत हमारा है मेरे चाचा ने दिया है दान।" मैं कहती-"जा. ..जा तेरे चाचा राजा थोड़े न हैं जो दान देंगे। स्कूल बनाया मेरी मां ने समझा! तसला-तसला मिट्टी सिर पर ढोयी मेरी मां ने, समझा!" उन दिनों हमारी भैंस सूखा घास देख दूध देना बंद कर देती थी क्योंकि मां जंगल जा नहीं सकती थी। मुझे सेम की सब्ज़ी के साथ रोटी खानी पड़ी थी। सब्ज़ी में शीह-शीह इत्ती मिर्च थी समझा!" उसने गुस्से में आकर मेरी नई किताब के पन्ने फाड़ दिए-"ये है तेरा स्कूल जा...।" मैं रोने लगी।

"स्कूल का नाम क्या है पता भी है तुझे, कुछ...?" मैंने रोते-रोते कहा-"क्या है"। उसने अकड़कर कहा-"देख क्या लिखा है 'प्राइमरी पाठशाला जसपुर' समझी!" उसने मेरी पेंसिल आकाश में उछाली। आकाश ने पकड़ी नहीं। बहुत नीचे घाटी में गिरा दी।

मैं आंसू से भीगा चेहरा लेकर घर जा रही थी। ऊपर से मैंने उसे गाली दी-"जुपली का बेटा!" दादी ने कहा था एक दिन। एकदम याद आ गया मुझे। वह नीचे खड़ा था पत्थर उठाकर। मैं बहुत ऊपर थी। इतनी ऊंची जगह उसका पत्थर नहीं आ सकता था। उसने खीझकर पत्थर नदी की ओर फेंका और ज़ोर से चिल्लाया-"हम अपना स्कूल वापस ले लेंगे जा...।"

घर आकर मैं दादी की गोद में मुंह छिपाकर रो पड़ी। दादी के चेहरे की झुर्रियां कांपने लगीं। एकाएक धुएं का बादल उठा। दादी गरजने लगी-"जंगल की शेरनी!" शेरनी तत्काल हाज़िर हुई। दादी बैठी उसकी पीठ पर। मैं दादी के पीछे उसकी कमर पकड़े बैठ गई। दादी ने पुकारा-"गुड़िया के दादा!" दादाजी बैलों के सींगों पर तेल मल रहे थे दादी बोली-"देखो...तुम दाल-भात पकाकर रखना। मैं जुपली का काम तमाम करके यों लौटी....दादाजी ने मुस्कुराकर हामी भरी। बैलों ने भी मुस्कुराकर हामी भरी। एक बैल जिसका एक सींग कुछ ज्यादा ही लंबा और नुकीला था उसने कहा-"मेरा सींग भी साथ ले जा दादी....।"

रास्ते में एक बटोही बकरी की रस्सी पकड़कर जा रहा था। रास्ता संकरा था। पगडंडी जैसा, बकरी ने देखा रानी पंचुर की शेरनी पर सवार बकरी बोली-"मैं-मैं" वह रास्ता छोड़ना चाहती थी। बटोही उसकी गर्दन रस्सी से कस रहा था। शेरनी की गुर्राहट उसने सुनी देखा रानी पंचुर की शेरनी पर सवार उसके गले से बकरी का स्वर फूटने लगा। शेरनी का सामना होने पर उसने रास्ता छोड़ दिया, मेरा मन खुशी से किलक उठा, अब आएगा मज़ा बेटा अर्जुन...अर्जुन की मां बड़ा-सा कद्दू लेकर घर के आगे पत्थर के चौंतरे पर बैठी हिल रही थी। उसने सुनी शेरनी की गुर्राहट। वह भी रानी जसपुर थी पर उसके गले से बकरी मिमियाने लगी थी। अर्जुन बकरी की सवारी कर रहा था। बकरी उसकी लौकी जैसी टांगों के बीच फिसल रही थी। अर्जुन उसे घोड़ा समझ उसकी सवारी का मज़ा ले रहा था।

अर्जुन की मां का चेहरा उल्टे पतीले जैसा था और शरीर हाथी का, उससे उठा न गया। उसने कहा-"गुड़िया अर्जुन ने तुझे क्या कहा? क्यों तुम्हारा झगड़ा हुआ?" मैंने शेरनी की पूंछ पकड़ी।

अर्जुन चिल्लाया-"चल झूठी"। उसने मां की ओर घुमाई बटन-सी आंखें-"देख मां, देख कितनी झूठी है। उसने गर्दन झटकाई तो बकरी भाग गई। अर्जुन बकरी को पकड़ने दौड़ा। उसकी मां उठी सीढ़ियां उतरी, बाड़ से सोंटी तोड़ी। लपर-झपर उसके पीछे दौड़ी "अब बता गुड़िया ने तुझे क्या कहा था"। अर्जुन की 'ही ही ही' निकलने लगी। इसने कहा था "जुपली का बेटा"। मां ने सोटी को हवा में उछाल दिया। 'बस बात खतम' वह ऊपर आई। टांड से दरी निकाली। दादी के आगे फेंकी, झम्म! शेरनी पलक झपकते ही ग़ायब!

अर्जुन की मां ने आवाज़ दी-"परकास की बहू गुड़िया की दादी के लिए चा बना।" परकास की बहू एक गुफा से निकली। दादी के पांव छूए और दूसरी गुफा में घुस गई जहां से धुआं निकल रहा था। आते समय अर्जुन की मां ने पेड़ से तोड़कर हमें नारंगी भी दी। मैंने छोटे दादा से कहा सब। दादा बोले-"अरे रे रे, वो जुपली का लड़का। उसने तो हमारी बकरी की टांग ही तोड़ डाली! उसके हाथ में तो पत्थर ही रहता है बेचारी बकरी लंगड़ाकर चलती है।"

छोटे दादा खड़ीक के पेड़ के नीचे ही बैठते लाल पत्थर पर, पेड़ पर कौवों का घोंसला था। वे अपने घर में खूब झगड़ते। मोटा कौआ घर में रोटी नहीं लाता तो पतली कौवी कांव-कांव करती। फिर कौवा उसे चोंच मारता। फिर बच्चे भी कांव-कांव करके उड़ने लगते। हम न रहेंगे इस घर में.... लेकिन फिर आधे रास्ते से लौट आते, और फिर कांव-कांव करते। कौवों की कांव-कांव से चिड़िया राह बदलकर आम के पेड़ पर जा बैठती और चीं-चीं, चूं-चूं करके सारी कौआ-कथा सुनाती। दादा कहते-"कितनी तो हुशियार है चिड़िया के झमेले में कभी नहीं पड़ती।"

पाठशाला जसपुर जाते समय सब बच्चे हाथ में एक लकड़ी ले जाते। मास्टर जी का हुक्म था, प्रार्थना में कहते-"देखो मेरे प्यारे बच्चो। गांधीजी की शिक्षा पर चलना। उनके हाथ में देखी है लकड़ी?" बच्चे एक स्वर में कहते-"देखी है मास्टर जी"।

मैं पाठशाला जाते समय पीठ पर बस्ता, हाथ में छोटी-सी पाटी ले जाती थी। कुछ दिनों तक दादी मुझे गोद में ले जाती रही, सब बच्चे मेरा मज़ाक उड़ाते तो मैं दादी की गोद से उतर जाती थी। दादी मुझे लकड़ी नहीं देती थी, कहती इतनी छोटी बच्ची बस्ता ले जाएगी कि पाटी कि लकड़ी। मैं एक दिन पूरी फांद (ढेर) ही डाल दूंगी तेरे मास्टर के चूल्हे पर। पाटी में लिखने के लिए कमेडे (सफेद चिकनी मिट्टी) की दवात बनानी पड़ती। दादी पहाड़ पार सफ़ेद पहाड़ से मिट्टी लाती, दादी को क़लम बनानी आती न थी। दादा जी को आती थी। वे पेड़ से कच्ची टहनी तोड़ते, उसे चाकू से छीलते। कभी जंगल से बांज की डंडी लाते। बाद में मास्टर जी ने हमें खड़िया दे दी थी। सफ़ेद खड़िया से हम स्कूल की दीवार में मां, दादी,

चाची, छोटे दादा, कौवा, चिड़िया बनाते। मास्टर जी कहते–"करो दीवार गंदी करो, तुम्हारे बाप की है न।" मास्टर जी बाहर जाते तो अर्जुन कहता–"मेरे चाचा की तो है न।"

एक दिन कुछ बच्चे लकड़ी ले जाना भूल गए। मास्टर जी ने सबकी हथेली पर बेंत मारी। मेरी हथेली लाल हो गई हल्की-सी खरोंच भी आई। दादी ने देखा उसके गोरे गुलगुले गालों की झुर्रियां हल्के-से कांपी फिर धुआं उठने लगा।

दादी ने कहा–"जंगल की शेरनी हाज़िर हो।" फिर दादी शेरनी पर बैठी। मैं दादी के पीछे। शेरनी मास्टर जी के सामने ज्यों गुर्रायी मास्टर जी कांपने लगे थर-थर-थर। उनके मुंह से लड़खड़ाती आवाज़ शेरनी पर गिरी "माफ़ करना ताइ माफ़ करना मुझे पता नहीं था कि गुड़िया...." मास्टर जी की बात पर खच्च शेरनी के दांत खुले–"ए मास्टर स्कूल से बड़ा ढेर लगा दूंगी लकड़ियों का समझे! मेरी गुड़िया को फूल की छड़ी से भी मारा तो..."

फिर दादी ने कहा–"चिड़िया हाज़िर हो..." एक नन्ही चिड़िया पंखों को झुलाते खड़ी हो गई–'चीं-चीं पंख चाहिए'? और दोनों पंख दादी को दे दिए। दादी फुर्र उड़ी पहाड़ी पर और लकड़ी का पहाड़-सा गट्ठर मास्टर जी के मुंह पर दे मारा।

दादी के अदृश्य होते ही मास्टर जी की आवाज़ कोमल हो गई–"बच्चो, किताब निकालो पर पहले बूझो तो इस मुहावरे का अर्थ जिसकी लाठी उसकी भैंस'। बच्चों ने सोचा एक-दूसरे की आंखों से पूछा–"नहीं आता मास्टर जी मास्टर जी।" मास्टर जी जंगल के राजा को सहला रहे थे। वह दहाड़े–'इतना भी नहीं आता...' मेज़ पर मारने लगे बेंत। 'चलो खड़े हो जाओ रमेश, शिब्बू, अर्जुन, उषा, नीला, रमा नाम लेते। बच्चे उठकर हथेली फैलाते टकी-टकी बेंत खाते आंखों में डब-डब भर आया पानी बाजू से पोंछते। मेरी बारी मास्टर जी ने ख़ारिज कर दी थी। बच्चे मुझे देखते गुड़िया तू राजकुमारी, हम दास-दासी।'

"मुझे भी मारो मास्टर जी" –मैं कहना चाहती थी, लेकिन गला भर आया था। जाने क्यों मुझे मार न पड़ने का दुख सताने लगा था।

अब मास्टर जी रोज़ कहने लगे थे–"गुड़िया तो फ्री है। फ्री माने आज़ाद। गुड़िया को कभी न मारेंगे। वह पढ़े या न पढ़े, सवाल सही करे या ग़लत।"

अर्जुन मुझे और चिढ़ाने लगता, "आज़ाद लड़की जा जा-जा...मिट्टी में खेल...फूलों को तोड़, तितली को मार। बटोही को पत्थर मार। तुझे कुछ थोड़े न कहेंगे मास्टर जी।"

मेरे भीतर धुआं भरने लगा।

मैंने घर जाकर दादी से खूब झगड़ा किया था। दादी हैरान थी। मास्टर मारते थे तो शिकायत करती थी। मास्टर नहीं मारते तो शिकायत करती है। पता नहीं यह कैसी तो लड़की है।

मां के पास लोहे का एक बक्सा था जिस पर छोटा-सा ताला झूलता। मैं उस पर चढ़कर अलमारी से चीज़ें निकालती। वह और झूलता–"मेरे अंदर ख़ज़ाना है खुल जा सिमसिम! ख़ज़ाना...आ खोल मुझे, देख जादू की दुनिया"।

मां जब भी बक्सा खोलती मेरी नज़र बचाकर ही खोलती। अचानक मैं टपक पड़ती तो अपनी ओट में खोलती, किनारे से बक्से से चमकीली चीज़ें झांकती लाल, पीले, हरे रंग इशारे से बुलाते। मैं उन्हें पकड़ने को लपकती। मां बक्से का ढक्कन बंद कर देती–"चल भाग तेरे मतलब की चीज़ थोड़े ही है।" मां नई हरी धोती निकालती जिस पर तितलियां फड़फड़ाती रहतीं। मां ने शायद ही कभी तितली पकड़ने दी हो। कहती तेरे मिट्टी से सने हाथ हैं गुड़िया, धोती गंदी हो जाएगी। मां हरी धोती मंदिर जाते समय पहनती या दुकान में जाते समय। घटवार जाते समय वह मोटी धानी रंग की धोती पहनती।

उस दिन मां जाने कैसे ताला लगाना भूल गई थी। गिनी रोई होगी। उसे दूध पिलाते हुए नीला की मां ने ऊपर से आवाज़ लगाई होगी–"गुड़िया की मां जल्दी चल, शिवजी को जल चढ़ाना है वरना शिवजी नाराज़ हो जाएंगे," शिवजी को गुस्सा भी तो कितना आता है। पता है न दक्ष को कैसे मारा था...मां शिवजी से डर गई थीं और शिवजी ने मेरी बात मान ली। मैंने कलेंडर में ठहरे हुए शिवजी से जिसमें वह बड़ा त्रिशूल और डमरू लेकर मुझे देख रहे थे। कहा था–"बक्सा खोल दो शिवजी भगवान", आज बक्सा खुला था। खुला माने ताला नहीं था। बक्से का ढक्कन बंद था। मुझे मिल गई थी सारे जहां की खुशियां. ...! धड़कते दिल से बक्सा खोला। अलीबाबा का ख़ज़ाना! लाल सुर्ख़ चांदी की गोटी लगा दुशाला, मख़मल का कुर्ता, सरसों के फूल रंग की धोती, नई नकोर मुलायम, दूसरी लाल साड़ी, मेरी फ्राकें, गिनी का स्वेटर, एक डिब्बे में बंद सोने का गुलबंद, नथनी, विसार, पौछीं, पाजेब मैंने हथेली में लिया। उछाला, नाक पर झुलाया, पाज़ेब पांवों झुलाई। फिर डर गई। मां मारेगी तो...डिब्बे में रखा, बंद कर दिया ढक्कन। एक फोटो मां और पिताजी का था। मां साड़ी, ब्लाउज़ में। पिताजी सूट, टाई में। मैं मां के पेट में, मां की मैंने बारी-बारी से तीन चुम्मी ली।

मेरी नज़र एक पोटली पर पड़ी। खोलकर देखा सिक्के 25, 50 10, 20 पैसे के सिक्के। रुपये 2-5-10-20 बाबा रे! मां के पास इत्ते रुपये। मुझे तो देती नहीं एक पैसा भी, जब भी दुकान में सौदा लेने जाती दादा जी 50 पैसे देते। गुड़िया के लिए चीज़ ले आना बहू। मैंने सोचा कुछ पैसे ले लूं। लेकिन दुकान तो बहुत-बहुत दूर है। रास्ते में जंगल है, जंगल मे बाघ है। बाघ ने पूछा गुड़िया कहां जा रही है तो...बाघ ने मुझे खा लिया तो... मैंने पैसे वापस रख दिए। अचानक मेरी नज़र एक गुब्बारे के पैकेट पर पड़ी। उसे देखकर मेरा मन खुशी से किलक उठा। मैंने चुपके से अपने बस्ते में छुपा लिया। कहीं चूहा न देख ले, कहीं चिड़िया न देख ले, बक्सा खोलने से पहले चिड़िया खिड़की में फुदककर दाना टीप रही थी, दादी घर में नहीं थी। पता नहीं कहां गई थी, पानी लेने धारे पर या हरी सब्ज़ी तोड़ने सेरे पर।

मैंने हाथ-मुंह धोए और फ्रॉक बदलकर बस्ता उठाकर पहाड़ी उतरने लगी। दादी ने दूर से देखा। वहीं से चिल्लाने लगी–"मैं, आऊंगी तुझे छोड़ने ठहर जा गुड़िया ठहर जा।"

मैं जैसे अलीबाबा का ख़ज़ाना लूटकर जा रही थी। मेरे क़दम तेज़ी से बढ़ने लगे थे। प्रार्थना के बाद मास्टर जी ने हाज़िरी ली और ब्लैकबोर्ड पर लिखा–'उठो लाल अब आंखें खोलो। पानी लाई मुंह तो धो लो'। कविता लिखकर मास्टर जी बाहर बैठे। उनका सिर रजिस्टर पर झुका था। मैंने खिड़की से देखा मास्टर जी की चोटी पर पीपल की टहनी पर झूल रहा कौवा चोंच मारने उतर रहा था।

मैंने अर्जुन को पुकारा–"अरजुन! मेरे पास एक चीज़ है।"

वह अपने स्थान से उठकर आया–"दिखा क्या है?" उसके साथ रमा, नीला, शिब्बू भी आकर गोल घेरा बनाकर बैठ गए।

"हमें भी दिखाना गुड़िया"–अर्जुन फुसफुसाया "जल्दी बता वरना दूंगा एक लापड़!"

उसने हाथ उठा लिया। पर मैं डरी नहीं–"पहले बता मेरे साथ झगड़ा करेगा? मारेगा मुझे?"

"मां की कसम नहीं करूंगा" –वह बोला।

"चिढ़ाएगा मुझे?"

"विद्या माता कसम! कब्बी नहीं!" उसने

किताब पर हाथ रखा "अब दिखा...."

मैंने अर्जुन की हथेली में गुब्बारा रखा। उसने मुझे विचित्र नज़रों से घूरा और चिहंककर बोला–ओ बुद्धू ये गुब्बारे थोड़े न हैं बदतमीज चीज़ है–"मैं औंचक उसको देखने लगी थी, प्रत्येक बार वह बंदर मुझे धक्का देता है और मैं लड़खड़ाकर गिर जाती हूं।

तत्काल मुझे एक उपाय सूझा–"तुझे कैसे पता?"

वह अकड़कर बोला–"कोई नहीं जानता मैं जानता हूं, मेरी भाभी ने बताया था बदतमीज़ लड़की!" वह फिर झगड़ने लगा। हम सबने पहाड़ी के नीचे फेंक दिए थे अपने-अपने गुब्बारे, पर मेरे कानों में बजने लगा था 'बदतमीज़ लड़की!' मैं सोचने लगी मां बदतमीज़ चीज़ को बक्से में क्यों छुपाकर रखती है? छोटे दादा से पूछूंगी पर उन्होंने भी कह दिया बदतमीज़, तो...इसी ऊहापोह में घर गई तो बस्ता पत्थरों की दीवार पर पटक कर छोटे दादा के घर चली गई किसी को पता हो न हो छोटे दादा को सब पता होता है। छोटे दादा घर पर नहीं थे। नहाने गए थे धारे पर। चिड़िया आम की टहनी पर झूल रही थी।

मैंने पूछा–"चिड़िया! चिड़िया! मां बदतमीज़ है?"

चिड़िया बोली–"मां तो अच्छी है तू बदतमीज़!"

मैंने गिनी से पूछा–"गिनी तू बता गुड़िया बदतमीज़ है?"

मां गिनी को दूध पिला रही थी। उसने मेरी पीठ पर चपत मारी। "तेरे मास्टर यही सिखाते हैं?" मैं रोने लगी तो मां ने अपने से चिपका लिया–"तू अच्छी है गुड़िया बहुत-बहुत अच्छी।"

एक दिन हमारी पाठशाला में दो सिपाही आए। उनकी बाजू में काली बंदूक झूल रही थी, उन्होंने कहा–"सरकार का आदेश है हम बहनों को बंदूक चलाना सिखाने आए हैं।" सभी औरतें सीखने लगीं बंदूक चलाना धांय! मां भी सीखने लगी, मैं भी मां के साथ जाती। फिर एक दिन मां ने कहा–"आज परीक्षा का दिन है।" सभी औरतें हमारे खेत की दीवार पर बंदूक मारने लगी थीं धांय! धांय! इस परीक्षा में मां को सबसे अधिक अंक मिले, और सर्टिफ़िकेट के साथ पुरस्कार भी मां लेकर आई थी। चमकीली गोटे वाली लाल रंग की शाल। उसे ओढ़कर मां भारत माता जैसी दिखने लगी थी।

रात को मैं दादी के पेट से चिपककर लेट गई। मेरी बंद आंखों में रंगबिरंगे तारे चमकने लगे। मैंने देखा मां हिमालय की सबसे ऊंची चोटी पर खड़ी है। उसकी हरी धोती का पल्ला लहरा रहा है, जैसे तिरंगा। मां मेरी किताब की भारत माता बन गई है, मां के पीछे, नीचे से पहाड़ी पर चढ़ती दोनों चाची है। मां गा रही है–"हिंद की हम नारियां/ जलती चिंगारियां/ समझे न कोई हमें फूलों की क्यारियां।" लेफ्ट राइट, लेफ्ट राइट बाएं मुड़, दाएं मुड़, ठक ठक।

मां...मां...मैंने आवाज़ दी–"मां मुझे भी ले जा हिमालय की चोटी पर खींच मेरा हाथ।" मैं चिल्ला रही थी लेकिन मां तक मेरी आवाज़ न पहुंची। मां दूर और दूर हो गई, मेरी आंख खुल गई।

आज अर्जुन ने देर से आने के लिए चिढ़ाया, तो मैंने कहा–"मेरी मां भारत माता है। तुझे मार देगी बंदूक से।" अर्जुन की ही ही ही निकलने लगी।

"इसकी मां भारत माता! ही ही ही अरे बुद्धू भारत माने हमारा देश भारतवर्ष।" अर्जुन को सब पता रहता, कक्षा में सबसे अधिक अंक लाता, मास्टर जी कहते–"लड़कियो, तुम्हारी बुद्धि घास चरने गई है।"

अंधेरी रात में जब तारा आसमान पर चमक रहा था मैंने कहा–"तारे! मेरे प्यारे! बडोनी मास्टर जी को हमारी पाठशाला से दूर भेज दो"। तारा सरपट दौड़ा कहा–"ऐसे मैंने कहा–जैसे भी पर भेज दो...।"

अगले दिन मैं छोटे दादा की चौक घेरती दीवार पर टांगें झुलाती नदी को देख रही थी लेकिन नदी थी कि अदृश्य हुई जा रही थी। उसके नीले-नीले टुकड़े खंड-खंड होकर बिखरे पड़े थे। बीच-बीच में लकड़ी के बड़े-बड़े टुकड़े अकड़कर बैठे थे। छोटे दादा दोपहर का खाना खाकर नीचे उतरे, बड़बड़ा रहे थे–"नदी मर रही है। नदी को मार रहे हैं शैतान, मछलियां भी मर जाएंगी...घाटी में पत्थर रह जाएंगे नदी को अब सपने में देखेंगे लोग।"

मेरी नन्ही-सी जान कांप उठी थी। फिर मुझे कौन गीत सुनाएगा। मरी हुई मछलियां मेरी किश्ती कैसे बनेंगी। किसी को हो न हो पानी और मछली पर मुझे अपार विश्वास था। एक मछली सीधी एक तिरछी। एक सीधी एक...बीच में एक मोटी मछली। मैं और नेहरू चेहरे वाले दादा की मछली नाव चलेगी हयाऽ...हयाऽ समुद्र से मिलने जाएंगे। दादा बताते समुद्र से बादल बनता है और हमारे गांव में पानी बरसाता है। झम-झम-झम बूंदें गिरती हैं। पत्थर की छतों पर, वर्षा से फ़सलों को जीवन मिलता है और हमें अन्न।

छोटे दादा सब जानते हैं। लोग कहते हैं मसाण है खूसट है पत्थर है। लोग क्यों कहते हैं लोग पागल हैं? दादा किसी से बातें नहीं करते। अच्छा ही करते हैं। भोलूराम बंदूक वाले ताऊ कहते हैं–"तेरे छोटे दादा के पास बहुत पैसे हैं। बोरी भरी है। जब घर में कोई नहीं होता वे मंदरे (चटाई) में सुखाते हैं रुपये।" कभी कहते–"उसके पास ज़मीन भी ज्यादा है।" वे बंदूक साफ़ करके निशाना साधते–धांय! धांय! छोटे दादा की छाती में उतारते सारी गोलियां–देख...मार दिया न तेरे दादा को।

मैं रोने को होती तो कहते–"अरे कहां मारा है गुड़िया देख दादा तो हैं ही नहीं। दादा के भूत को मारा है, अब तो खुश?"

ताऊ मुझे प्यार भी खूब करते। जब उनके घर जाती उनके तंबाकू के पतबीड़े से चेहरे पर धूप उगने लगती।

ताऊ जंगल-जंगल खेलते और गोधूलि के वक्त खून टपकाते जानवरों, पंछियों को कंधे पर लटकाए घर आते।

एक दिन उनके कंधे पर बच्चा ख़रगोश था। उस दिन ताई बहुत खुश हुई। उसने कहा–"ख़रगोश का मांस गांव में थोड़ा-थोड़ा बांटेंगे। उनकी लड़की थी विनती नाम था उसका। काली-कलूटी। उसके पांव गोबर से लिथड़े रहते। वह गांव में मांस के टुकड़े बांट रही थी। मैंने विनती को लंगड़ी टांग मारी। विनती धड़ाम गिरी, मांस मिट्टी में गिर गया। कहा चल में गिनी के पास गई। गिनी ने आंखों से कुछ कहा–मैं समझ गई गिनी को भी भोलाराम ताऊ विनती और दादी से शिकायत है। दादी क्यों खाना चाहती है बच्चा ख़रगोश।

मैं गिनी से बोली–"हम बाघ को बोलेंगे। वह भोलूराम ताऊ को खा लेगा। फिर कोई ख़रगोश और पक्षियों को मार नहीं पाएगा।"

गिनी बोली–"हम क्या कर सकते हैं। इतने तो छोटे हैं हम! "

मां आई–"क्या बात हो रही थी दोनों बहनों में?" मैंने कहा–"मां मुझे अपना दूध पिला दे। एक घूंट। सच मां मुझे प्यास लगी है। मां के दूध की प्यास।"

मां गिनी को दूध पिलाने बैठी। उसके मछली जैसे मुंह में मां ने अपना स्तन रखा। मैंने मां का स्तन खींच अपना मुंह लगाकर घूंट भरा। बहुत-बहुत मीठा मां का दूध, भैंस के दूध से कितना अच्छा।

मां हंसी उसके मोतियों से दांत चमके। उजाला फैलने लगा। मां बोली–"मेरे दूध की लाज रखेगी गुड़िया?"

मैं चुप। दूध की लाज जाने कैसी तो होती होगी, मां कहने लगी–"दूध की लाज माने अच्छे-अच्छे काम करेगी तू...." मैंने हामी भरी। हां मुझे बंदूक मिल गई तो उसे मार दूंगी जिसने मेरी नदी को मारा। मेरी मछलियों को मारा। जिसने मेरे पेड़ों को मारा। अब पंछी आसमान में घर बनाएंगे मां। उनके अंडे फूट गए तो..."मां मुझे बंदूक चाहिए जिसे लेकर तू हिमालय की चोटी पर खड़ी थी।"

खिल-खिल मां हंसी–"अरी बुद्धू दूध की लाज माने तू बड़ी होगी, तेरी शादी होगी, सास-ससुर की सेवा करेगी...अच्छा घर बनाएगी।"

जाने मुझे क्या हुआ। मैंने गिनी के गाल पर झपटकर कोंच लिया। गिनी रोने लगी। मां अवाक, फिर मां ने मुझे भी थप्पड़ मारा। मैं ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी–"मेरी शादी नहीं होगी, मुझे 'भारत माता' बनना है... मुझे बंदूक चाहिए। मुझे हिमालय की चोटी पर जाना है..." पर मां मेरी बात समझने में असमर्थ रही।

पाठशाला में मास्टर जी ने कहा–"चित्र बनाओ। लड़कियां घर का चित्र बनाएं, लड़के सिपाही का।"

मैंने बनाया घर के पास नदी, जंगल, पेड़, पेड़ पर चिड़िया, घर में गिनी और छोटे दादा। मास्टर जी ने मुझे अंडा दिया। बड़ा-सा अंडा।

मैं रोने लगी और रोते-रोते घर आई। दादी ने कहा–"मास्टर को तो मैं बताऊंगी तू यहां पर बना घर।"

मैंने चूल्हे से कोयला लिया। दीवार पर बनाने लगी घर। दादी पानी लेकर आई। उसके चेहरे पर पानी की बूंदें टपक रही थीं। उसने गागर कोने पर रखी।

मैंने कहा–"दादी देख मेरा घर, ये गिनी, ये छोटे दादा, ये नदी, नदी में मछली और ये पेड़, पेड़ पर चिड़िया।" दादी धोती के पल्लू से पानी पोंछती हुई दीवार पर देखने लगी..."और मैं कहां हूं?"

मैंने कहा–"शेरनी से मुझे डर लगता है।" दादी आंखें फाड़कर देखने लगी फिर उसने कहा–"आज तू झंगोरा खाएगी।"

मैंने अपने घर को बिगाड़ दिया। "नहीं खाऊंगी मैं। गले में अटकता है।"

दादी बोली–"तू देशी लड़की थोड़े ही है पहाड़ी लड़की खाती है, भात खाना था तो देश में पैदा होती।"

मैं ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी। "मुझे पहाड़ में ही होना है, और भात भी खाना है।"

दादी ने मेरी पीठ पर झाड़ू मारी–"पहाड़ में पैदा क्यों हुई तू, राजा के घर में होती।" मैं रोते-रोते सो गई और फिर सोते-सोते ही मैंने सुना।

हमारे गांव के आसमान में अचानक बादलों में घमासान युद्ध हुआ। मेरी आंख खुल गई। देखते ही देखते अंधेरा छा गया जानवरों, पंछियों में चीख़, पुकार मचने लगी। हवा पहाड़ी से सिर टकड़ाकर रोने लगी हूऽ... हूऽ...भयावह आवाज़ों से दिल दहल उठा। बादल ने समुद्र का सारा पानी हमारे पहाड़ पर बरसा दिया।

बादल ने नदी से कहा–"नदी रास्ता छोड़, इस पानी को भी जगह दे।" नदी क्या करती डबक...डबक ऊपर आने लगी। छोटे दादा खिड़की से देख रहे थे। नदी हम से मिलने खेतों को लांघकर ऊपर आ रही थी, बादल, हवा, पेड़ों, पंछियों, जानवरों के साथ लोग चिल्लाने लगे "नदी हमें मार देगी बचो...बचो...बचाओ" की आवाज़ों के बीच मेरी आंखें बंद हो गईं।

आंख खुली तो देखा नदी वापस लौट गई थी। हमारी पाठशाला जसपुर के नीचे खेतों में, मछलियां मरी पड़ी थीं। लोग मछलियां बटोर रहे थे।

बड़े दादा और छोटे दादा के बीच अब भी अबोला बैठा था। ❑

संपर्क : बी-39, नेहरू कालोनी, देहरादून

एक मुकम्मल औरत का ख़्वाब

पृष्ठ 36 से आगे

अवधारणाओं, सिद्धांतों को सीधे न कहकर रूपकों, कथानकों और मिथकों का सहारा लेती हुई दृष्टिगत होती हैं, के संपूर्ण व्यक्तित्व एवं कृतित्व को समग्रता में शब्द देना संभव नहीं है। बहुत-कुछ मुझसे भी छूट गया होगा। अपनी किशोर वय में अपने सौतेले भाई के द्वारा हुई अशोभनीय यौन दुर्घटना, मां, पिता, भाई का एक के बाद एक का निधन, पिता के दार्शनिक विचारों का प्रभाव हर पल अपने-आप में डूबे रहने, सोचने की प्रवृत्ति, जीवन के उतार-चढ़ाव, व्यवहारिक कर्मठता और गहन अध्ययन इस सबके प्रभाव ने जहां उनकी निजी ज़िंदगी को अवसाद से भर दिया था, वहीं वह अपनी चेतना के बल पर साहित्य के सितार पर जीवनदायी स्वरों की साधना में रत रहीं। 19वीं शताब्दी के प्रारंभ में आम बुद्धिजीवी वर्ग में निराशा और पलायन की मानसिक त्रासदी भर गई थी। लोग अस्तित्ववादी क्षणवाद से प्रभावित हो रहे थे। नारी मुक्ति आंदोलनों की गति धीमी पड़ रही थी। नाज़ी दमन संपूर्ण मनुष्यता के आगे प्रश्नचिन्ह लगा रहा था। यह सब लेखिका अपनी खुली आंखों से देख रही थी।

एक स्त्री होने के कारण वे स्वयं दोहरा जोखिम जी रही थी। उनके सामने एक स्त्री के अस्तित्व के साथ-साथ एक लेखिका के रूप में, स्त्री साहित्यकार के रूप में स्वयं को प्रतिष्ठित करने का भी संघर्ष रहा होगा।" *ए रूम आफ़ वन्स ओन* के माध्यम से वुल्फ़ ने स्त्री जाति पर लगाए जाने वाले प्रतिभाहीनता के आरोपों का जवाब दिया है। स्त्री की स्वायत्तता, प्रतिभा और आत्मविश्वास का प्रतीक उनका लेखन अपने समकालीनों और आधुनिक साहित्यकारों के लिए भी एक चुनौती है! वे पूरे विश्वास के साथ लिखती हैं–

"यदि हम मिल्टन के हौवे के पार देख सकें क्योंकि कोई भी व्यक्ति दृष्टि पटल को ढक नहीं सकता, अगर हम इस तथ्य का सामना कर सकें कि कोई हाथ मौजूद नहीं जिसका सहारा लिया जा सके बल्कि हमें अकेले चलना है। हमारा संबंध केवल स्त्री व पुरुषों की दुनिया से नहीं बल्कि यथार्थ की दुनिया से बना रहना चाहिए तो मौक़ा अवश्य आएगा। वह कवयित्री शरीर अवश्य धारण करेगी जो शेक्सपियर की बहन थी।" (*अपना कमरा* : वर्जीनिया वुल्फ़, पृष्ठ 114) ❑

संपर्क : 128/222, वाई ब्लाक, किदवई नगर, कानपुर-208011।

नारी की मनोवैज्ञानिक पतनोन्मुखता : एक विमर्श

प्रगति श्रीवास्तव

नारी के विविध रूप हैं–जननी, बहन, पत्नी, प्रेमिका, अध्यापिका और विभिन्न पेशे में लगी कामकाजी स्त्रियां। आदिकाल से अब तक नारियों के लिए विभिन्न नैतिकताएं, कहावतें और फब्तियां मशहूर रही हैं। स्त्री को कभी 'पूज्यंते यत्र नार्यस्तु रमंते तत्र देवता' कहा गया तो कभी 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' कहा गया। कभी कहा गया–

मुक्त करो नारी को मानव
चिरबंदिनी नारी को,
युग-युग की बर्बर काया से
जननी, सखी और प्यारी को।

लेकिन देखा जाए तो आदिकाल से ही पुरुष वर्चस्व ने अपना स्थान कभी छोड़ा नहीं और स्त्री को मनोवैज्ञानिक रूप से दबे रहने पर विवश किया जाता रहा। यहां तक कि शक्तिशाली पूज्यनीय नारियों (देवियों) को भी किसी-न-किसी की पत्नी बनाकर पुरुष वर्चस्व कायम रखा गया। एक कवि ने ठीक ही कहा–

बचपन में कहा लोगों ने
'छोटी बच्ची है। कुछ जानती नहीं है
बैठ जा चुपचाप।'
जवानी में लोगों ने कहा–
'गरम खून है
भला-बुरा जानती नहीं
बैठ जा चुपचाप'
बुढ़ापे में कहा लोगों ने
बुड्ढी है, अब करेगी भी क्या
बैठ जा चुपचाप'।

ठीक कहा है विदेशी लेखक सीमोन द बाउवार ने कि–'स्त्री पैदा नहीं होती बल्कि उसे स्त्री बना दिया जाता है।' उपयुक्त तीनों अवस्थाओं में मनोवैज्ञानिक रूप से नारी को अबोध, बुद्धिहीन, उतावली, गरम खून वाली और अशक्त घोषित कर दिया गया। विचारणीय यह है कि किसका बचपन अकस्मात बड़ा हुआ है? आख़िर उम्र तो सभी पर हावी रहती है चाहे वह लड़का हो या लड़की। युवावस्था में पुरुष हो या स्त्री उसके देह का गठन, बनावट, सौंदर्य अलग-अलग ढंग से विकसित होते हैं और खून दोनों के गरम हो जाते हैं, तब मात्र स्त्री को ही क्यों आरोपित किया जाता है कि 'भला-बुरा नहीं जानती' और फिर उसे 'बैठ जा' आदेशित करना किसके अधिकार में है? और क्यों है? इसका उत्तर एक ही है–'पुरुष वर्ग अपने हाथ में यह 'वीटो पावर' रखता है।' इन सारे सवालों का स्त्री पर एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है जिसका परिणाम कई बार प्रतिकूल पड़ता है। मनोवैज्ञानिकों ने बताया है कि उपर्युक्त उपेक्षाओं के कारण स्त्रियों में किंकर्त्तव्यविमूढ़ता बढ़कर हीन भावना पैदा करती है। तनावों के कारण 'मानसिक विकार का परिवर्तन शारीरिक विकार हो जाता है। शारकों, फ्रायड, जैने और माटर्न प्रिंस इत्यादि मनोवैज्ञानिकों ने हिस्टीरिया का कारण मानसिक बतलाया है। 'रिबट' का कथन है कि हिस्टीरिया में मानसिक अव्यवस्थित अवस्था शारीरिक क्रियाओं में प्रकट होती है। 'बैठ जा चुपचाप' एक ऐसा प्रत्यक्ष एवं परोक्ष आदेश है जिसका असर भी सीधा दिमाग़ पर पड़ता है। जिसका स्थाई पड़ाव पतन होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि नारी के पतनोन्मुख होने का उत्तरदायित्व 'बैठ जा चुपचाप' आदेश देने वाले तथाकथित 'आक़ाओं' के ऊपर ही है। आख़िर औरतें कब तक उस मील के ग़लत पत्थर को उखाड़कर न फेंकें?

> *भारतीय महिलाओं में मनोवैज्ञानिक रूप से पतन की प्रवृत्तियां तब भी उपजती हैं जब उनकी प्रास्थिति को प्रभावित करने वाले कारक प्रभावी होते हैं–जैसे–निर्धनता, धनाभाव, अस्वस्थता, कुपोषण, अशिक्षा, सामाजिक भेदभाव, शारीरिक और मानसिक हिंसा, बालिका भ्रूण-हत्या, बाल विवाह, वेश्यावृत्ति, मानवाधिकारों का हनन, कठोर परिश्रम, कल्याण एवं विकास कार्यों की प्रभावहीनता आदि।*

यह बात साफ़ है कि नारी समाज का वह हिस्सा है जिसके बिना समाज क्या, सृष्टि भी अधूरी होगी। 'पुरुष दृष्टि एक सहानुभूति है जबकि स्त्री दृष्टि आत्मानुभूति है। 'पुरुषों का वर्चस्व भावना और अपने आधिपत्य को सदैव आगे रखने का अहं भूत, वर्तमान काल में तो रहा ही है पर भविष्य में क्या होगा, यह तो भविष्य के गर्त में ही है। अगर यह कहा जाता है कि 'पुरुष वर्चस्व अनंतकाल से बना हुआ सीमेंटेड घर है' तो इसके पीछे स्त्रियों की मनोवैज्ञानिक पतनोन्मुखता और हीनभावना का बना रहना ही माना जाएगा। पर विचारणीय यह है कि आख़िर क्यों नहीं स्त्रियां सोचती हैं कि इस मनोवृत्ति का त्याग कैसे हो? हम देखते हैं कि उत्पीड़न, पीड़ा, अशिष्टता, शोषण, दुख, भूख, प्यास आदि सहते हुए भी नारियां सुख के गीत गाती रहती हैं, परिवार के मंगल हेतु मंगल गीत गाती रहती हैं, पति-पुत्र-भाई सभी के लिए तमाम संतापों को ओढ़कर भी खुशी की दुआ, पूजा-पाठ किया करती हैं पर ऐसा पुरुष वर्ग क्यों नहीं किया करता? यह एक बड़ा सवाल है। रिश्तों की पवित्रता से मुझे कोई गुरेज़ नहीं है परंतु आज जब पूरे देश स्तर पर सिर्फ शिक्षा-साक्षरता को ही लिया जाए, नौकरियों को लिया जाए तो पुरुष वर्चस्व सामने खड़ा हो जाता है कि–'फिर घर कौन देखेगा? बाल-बच्चों को कौन देखेगा? सगे-संबंधियों को कौन देखेगा?' तब उन्हें याद नहीं आता है कि आख़िर विदेशों की स्त्रियों को कौन-सा दर्जा प्राप्त है? ये ज़िम्मेवारियां क्या पुरुष नहीं उठा सकते?

वस्तुतः देखा जाए और खोजा जाए तो स्त्रियों के पतनोन्मुख होने के पीछे एक बहुत बड़े षड्यंत्र का हाथ है जिसे वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक रूप से पूरी दुनिया में फैलाया गया है। भारतवर्ष में इसका फैलाव सबसे अधिक है क्योंकि विदेशों में शिक्षा और साक्षरता का प्रतिशत अधिक है। यहां पर प्रतिशत बहुत कम है–आंकड़े बताते हैं कि भारत में 1991 और 2001 की जनगणनानुसार क्रमशः पुरुषों की साक्षरता दर 54.13 प्रतिशत और 75.85 प्रतिशत रही जबकि स्त्रियों की साक्षरता दर 39.29 और 54.16 प्रतिशत रही। ऐसी स्थिति में महिलाओं को युग-काल, युगीन बातों और तथ्यों से सदैव वंचित रखा जाता रहा है हालांकि कुछ मुस्लिम राष्ट्रों में कट्टरता का मनोविज्ञान भारतवर्ष से भी अधिक है। इसके पीछे भी पुरुष ही हैं।

आधुनिकता और उपभोक्तावादी संस्कृति ने महिलाओं को मनोवैज्ञानिक रूप से छला है। अंतरराष्ट्रीय राजनीति ने महिलाओं को सिर्फ़ बाज़ार दिया। मनोवैज्ञानिक रूप से स्त्रियों को पतन की ओर धकेलने वाले निम्न घटक हैं–

विज्ञापन का विश्व बाज़ार–आज से 60 वर्ष पहले के विज्ञापनों को देखा जाए तो वे आज के विज्ञापन से कई गुना गुणवत्तापूर्ण और नैतिक विज्ञापन थे। वर्तमान अर्थप्रणाली ने महिलाओं को बाज़ार की वस्तु बना डाला है। हर माल के उपभोक्ता हैं, महिलाओं का इसमें सबसे अधिक शोषण और दोहन होता है। विज्ञापनों में छोटी से बड़ी उपभोग की वस्तुओं में स्त्रियों के सौंदर्य, अंग प्रदर्शन, बोली, चुलबुलेपन और मर्यादा को त्यागकर पोज़ देने की ऊंची-से-ऊंची क़ीमत दी जाती है।

रेखांकन : **राघवेंद्र तिवारी**



सौंदर्य प्रतियोगिताएं–50-60 वर्ष पहले भारतवर्ष की कोई स्त्री शायद ही किसी सौंदर्य प्रतियोगिता में भाग लेती रही हो। दुनिया की कुछ बड़ी शक्तियों के पूर्व नियोजित और सोचे-समझे षड्यंत्र ने भारत की नारियों को बाज़ार में उतार दिया और विश्वसुंदरी की प्रतियोगिताओं में भारत को तरजीह दी जाने लगी। आख़िर क्यों? इसलिए कि भारतीय सौंदर्य को विकसित राष्ट्रों द्वारा भुनाया जा सके। उन्हें अच्छा बाज़ार मिल गया। उपर्युक्त दोनों घटकों ने महिलाओं के अंदर अधिक-से-अधिक धनोपार्जन की इच्छा बढ़ा दी। इस इच्छा का सीधा प्रभाव मनोवैज्ञानिक रूप से विज्ञापन की ओर खींचकर ले जाने पर पड़ता है।

माडलिंग–इस घटक ने भी प्रतियोगिता के हवन में घी का काम किया है। स्त्रियां इस ओर भी खिंची और पैसे की भूख उनमें जमकर जगी। इसका भी उनके ऊपर प्रभाव पड़ रहा है। उन्हें पैसों के तराजू पर अपना अधिक-से-अधिक प्रदर्शन वज़नदार लगने लगा है।

सामाजिक उपेक्षा–यह एक ऐसा घटक है जिसका प्रभाव निम्न और मध्यवर्गीय महिलाओं पर अधिक पड़ता है, पति, पिता द्वारा उपेक्षा अथवा अपने से बड़ों द्वारा उपेक्षा, ग्राम, क़स्बा, नगर, प्रशासन सभी की उपेक्षाओं का शिकार स्त्रियां ही बनती हैं जो उन्हें हताशा, नशाख़ोरी, आत्महत्या, वेश्यावृत्ति आदि की ओर ले जाने में सहायक बनती है।

दीनता–स्त्रियों की दुर्दशा का एक प्रमुख कारण उनकी ग़रीबी है उनके परिवार की ग़रीबी है। आर्थिक तंगी, हीन भावना और आत्महत्या तक ले जाती है। हीन भावना कई स्त्री रोगों का भी कारण बनती है।

अशिक्षा–शिक्षा और साक्षरता के लिए आज भी जो प्राथमिकता बालकों को दी जाती है वह बालिकाओं को नहीं मिल पाती। देश की 21 प्रतिशत बच्चियां आज भी विद्यालय नहीं जा पातीं।

दहेज की आग–दहेज स्वयं में एक संपूर्ण समस्या है जिसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव स्त्रियों पर पड़ता है। यह जलता भूत है जो जला देता है स्त्रियों को।

उपर्युक्त सभी घटकों का जो मनोवैज्ञानिक प्रभाव स्त्रियों पर पड़ता है उनमें आत्महत्या, गृहत्याग, वेश्यावृत्ति की ओर जाना, कालगर्ल बन जाना, अपहरण का शिकार होना, बहुविवाह की विवशता तथा अन्य सामाजिक बुराइयों की ओर चले जाना है। यह सही है कि महिलाओं या पुरुष दोनों के लिए 'अवसाद' से 'आत्महत्या' को बल मिलता है लेकिन अवसाद की शिकार स्त्रियां ही अधिक होती हैं। अधिक पैसे कमाने की इच्छा से औरतें अधिक-से-अधिक काम करने की होड़ में शामिल रहती हैं इसलिए अधिक मेहनत, कम विश्राम, मद्यपान, कम भोजन के कारण एक प्रकार को मनोविक्षिप्ति का रोग नारियों को पकड़ लेता है जिसमें दृष्टि भ्रम, अनिद्रा, बेचैनी, दृष्टि विपर्यय आदि रोग हो जाते हैं। इन सारे रोगों को 'कंपोन्माद' कहते हैं। ये माडलिंग और विज्ञापन वाली नारियों को होते हैं।

'विश्व मानसिक चिकित्सा दिवस' के अवसर पर प्रकाशित एक रिपोर्ट के अनुसार–आज की तेज़ रफ्तार ज़िंदगी में कम समय में अधिक-से-अधिक पाने की इच्छा पुरुषों और स्त्रियों दोनों में बढ़ गई है। अधिक पाने की इच्छा से 'अवसाद' की उपज होती है। वह 'अवसाद' मन का अवसाद होता है जिसका सीधा संबंध मनोविज्ञान से है।

भारतीय महिलाओं में मनोवैज्ञानिक रूप से पतन की प्रवृत्तियां तब भी उपजती हैं जब उनकी प्रास्थिति को प्रभावित करने वाले कारक प्रभावी होते हैं–जैसे–निर्धनता, धनाभाव, अस्वस्थता, कुपोषण, अशिक्षा, सामाजिक भेदभाव, शारीरिक और मानसिक हिंसा, बालिका भ्रूण-हत्या, बाल विवाह, वेश्यावृत्ति, मानवाधिकारों का हनन, कठोर परिश्रम, कल्याण एवं विकास कार्यों की प्रभावहीनता आदि।

'एलीनार मार्क्स' और 'एडवर्ड एवोलिंग' ने ठीक ही कहा है कि–इट इज़ फ़ैक्ट दैट इन अवर कॉम्पलेक्स सोसाइटी द वैल्यू ऑफ वोमैन इज़ ऑल सो लॉस्टेबल ऑन द इकॉनामिक बेस लाइक एनीथिंग अर्थात–"हमारे जटिल समाज में हर चीज़ की तरह स्त्रियों की हैसियत भी एक आर्थिक बुनियाद पर टिकी होती है।"

प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में स्त्रियों के अपमान को कभी भी बरदाश्त नहीं किया और *गोदान, ग़बन* आदि में स्त्रियों के मनोविज्ञान को स्पष्ट ढंग

से सामने रखा है। बाल विवाह, बहुविवाह, भाग्यवादी होना, हिंसा, चोरी की कला सिखाना आदि सभी बुराइयों में सीरियल ज्यादातर औरतों को ही सिखाते हैं और औरतें खूब प्रेम से उन्हें देखती हैं, फलस्वरूप उनके ऊपर मनोवैज्ञानिक कुप्रभाव पड़ते हैं, जो पतन की ओर ही ले जाते हैं। नारी की एक विडंबना यह भी है कि नारी ही नारी की प्रबल शत्रु है। पितृसत्तात्मकता भी नारियों की मनःस्थितियों को प्रभावित करती है।

हालांकि पिछले दिनों ऐसी साहसी बालाएं भी सामने आईं जिन्होंने दहेज का खुला विरोध किया, उम्रदराज़ों को नकारा, लालची अयोग्य लड़कों को अस्वीकार किया, कितनी ही बारातें लौट गईं लेकिन स्त्रियों को इस दिशा में इरादे और पक्के करने होंगे।

मार्च 2007 में 'अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस' पर ज़िलों, प्रदेशों और महानगरों में इस बार स्त्रियों को लेकर जो उबाल राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय स्तर पर देखने-पढ़ने को मिला उससे नारी भावना की दृढ़ता, मनोवैज्ञानिक सामर्थ्य, मनोवैज्ञानिक उभार, मनोवैज्ञानिक शक्तिशाली प्रभाव उभरकर सामने आए।

हमारे देश में भी अब इस पतनोन्मुख रोग–स्त्री उत्पीड़न, नारी शोषण, बलात्कार और असमानता के विरुद्ध आवाज़ें उठने लगी हैं। अरविंद जैन ने *औरत होने की सज़ा* में लिखा है–'न्याय की दुनिया अन्याय से भरी है। कानून स्त्रियों को सुरक्षित करने के बजाय असुरक्षित करने का काम कर रहा है। स्त्री के विरुद्ध हिंसा की घटनाएं रोज़ बढ़ती जा रही हैं लेकिन कानून पीड़ित स्त्री के प्रति सरोकार, संवेदनशीलता और सहानुभूति की जगह संदेह, साक्ष्य, सवालों का चक्रव्यूह पेश करता है'। अब रचनाकारों, कवियों और उपन्यासकारों की निगाह स्त्री-विमर्श, स्त्री मनोविज्ञान और नारी अधिकारों की सतत् वृद्धि तथा समानता के सिद्धांत की ओर बढ़ती जा रही है। इसके बावजूद स्त्रियों को स्वयं अपने अधिकारों का एहसास ज़रूरी है। स्त्रियों की राजनीति, समाज, सामाजिक क्रियाकलाप में सक्रिय भागीदारी और संघर्ष की अनिवार्यता आज की अनिवार्य आवश्यकता है। एक बात स्पष्ट है कि टी. वी. और मीडिया ने नारी आदर्श, नारी भावना, स्त्री की सामान्य मानसिकता को दिनोंदिन घटिया प्रदर्शित करने का जो निंदनीय कार्य 'सीरियलों', पिक्चरों द्वारा किया जा रहा है, उसका प्रबल विरोध आज अनिवार्य हो गया है। हमें ऐसे सीरियल, पिक्चरों का विरोध करना ज़रूरी हो गया है। उनके पीछे वैश्वीकरण, उपभोक्ता संस्कृति तथा साम्राज्यवादी, पूंजीवादी शक्तियों का षड्यंत्र स्पष्ट देखा जा सकता है। इसका सीधा प्रभाव स्त्रियों और छात्राओं पर मनोवैज्ञानिक रूप से पड़ता है जिसका दीर्घकालीन प्रभाव पतनोन्मुख होता है। अतः हमें सजग होकर भविष्य की परिकल्पना करनी होगी तभी हमारे वांछित अधिकार प्राप्त होंगे। ❑

संपर्क : पूर्वांचल पी.जी. कालेज, सुंदरपुर, रानी की सराय, आज़मगढ़-276001

तीन कविताएं : **सुमन**

लड़की

खिड़की से धीरे से
झांकती है लड़की।

खुले आकाश को
टुकुर-टुकुर ताकती
है लड़की।

चुपके से जीवन के सपने सहेजती है
इधर-उधर देखती है
यहां कहीं मां तो नहीं!

सदियां बीत गईं

पल भर जी न पाए
सदियां बीत गईं।

सूनी है आंखों की गागर
नदियां रीत गईं।

रीत नेह की अब भी वैसी
गुनते प्रीत गईं।

जीवन की गहमा-गहमी में
ग़ज़लें गीत गईं।

तुम्हारे लिए

कामों से निस्तार पाकर
लिखूंगी तुम पर एक कविता।

किलकती तुम्हारी हंसी
घुटनों के बल चलकर पकड़ना
अपनी छाया।

अचरज से देखना पंछियों को
क्षण भर के लिए मैं
भूल जाती हूं खुद को
अजूबा है यह सृष्टि
मेरी लाडली तुम्हारे लिए।

यूं ही ताउम्र चहकती रहे तू
फूलों लदी बेल की तरह
गूंजती रहे तुम्हारी हंसी
धरती के कन-कन में।

दुलराती रहें माएं अपने छौने
चलता ही रहे ये सिलसिला
युगों तक धरती पर

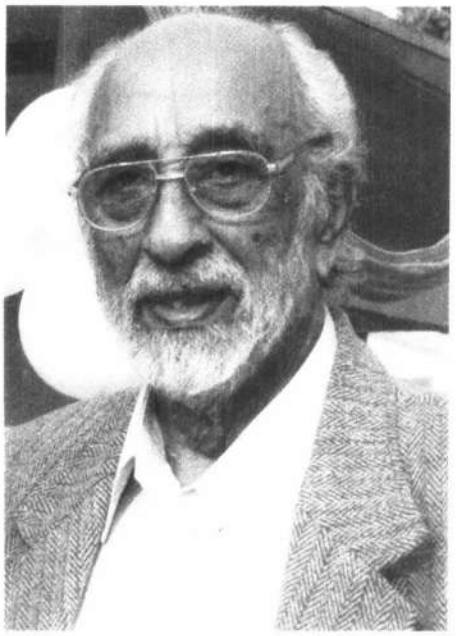
संपर्क : पं.दी.द.उ. राजकीय महाविद्यालय, पलहीपट्टी, वाराणसी (उ.प्र.)

सौजन्य के प्रतीक द्रोणवीर कोहली

शेरजंग गर्ग

द्रोणवीर कोहली हिंदी के प्रबुद्ध साहित्यकार, प्रतिष्ठित पत्रकार, उल्लेखनीय बाल साहित्यकार तथा रिपोर्ताज लेखक थे। वे अपनी श्रेष्ठता में निर्विवाद थे। पिछले दिनों अर्थात चौबीस जनवरी को गुड़गांव के एक निजी अस्पताल में उनका निधन हो गया। लगभग तीन हफ्ते तक अस्वस्थता से जूझते रहे। ख़बर थी कि शीघ्र ही घर लौट आएंगे, मगर ऐसा नहीं हुआ। उनका पार्थिव शरीर ही घर आया।

द्रोणवीर कोहली के बारे में जब-जब सोचता हूं तो यादों की उधेड़बुन में कभी एक सिरा छूट जाता है तो कभी दूसरा। उनसे लगभग साढ़े चार दशक पूर्व कनाट प्लेस स्थित 'टी हाऊस' में भेंट हुई थी। उन दिनों द्रोणवीर कोहली प्रकाशन विभाग की पत्रिका *बाल भारती* के संपादक थे। द्रोणवीर कोहली स्वभाव से सहज, संकोची, संवेदनशील मगर निरंतर सक्रिय रचनाकार थे। उन्हें उनके लेखन के कारण सदैव याद किया जाएगा। उनके उपन्यास यथा–*आंगन-कोठा, हवेलियों वाले, मुल्क अवाणों का, तक़सीम, नानी, बाढ़ कैंप, ध्रुवसत्य, काया-स्पर्श, चौखट, पोटली, खाड़ी में खुलती खिड़की* थे। कहानियों का एकमात्र संकलन *जमापूंजी* के नाम से आया था। कोहली जी के दो रिपोर्ताज संग्रह–*राजघाट पर राजनेता* तथा *हाइड पार्क* नाम से प्रकाश में आए थे। *टप्पर गाड़ी, करामाती कद्दू, कत्थक, मोर के पैर, डाक बाबू का पार्सल, वनवासी बच्चे* आदि उनकी अन्य पुस्तकें हैं। उन्होंने देश-विदेश में अनेक स्थानों की यात्रा की थी। *देवताओं की धरती* उनकी यात्राओं की पुस्तक है। द्रोणवीर कोहली ने अनेक श्रेष्ठ विदेशी कीर्तियों का अनुवाद भी किया था जिनमें डा. ग्लास की पुस्तक *उम्मीद है वह दिन आएगा* भी शामिल है। कोहली जी की बेबाक साहित्यिक और सामाजिक टिप्पणियों की पुस्तक *बुनियाद अली की बेदिल दिल्ली है* जिसमें यथार्थवादी दृष्टिकोण, तीखेपन और माधुर्यपूर्ण लेखन का समावेश है। इस पुस्तक के समस्त आलेख उस समय के अत्याधिक महत्त्वपूर्ण साप्ताहिक *धर्मयुग* में द्रोणवीर कोहली ने बुनियाद अली देहलवी के छद्म नाम से छपवाए थे। उन्होंने *बाल भारती* के अलावा *आजकल* (हिंदी), *सैनिक समाचार* का संपादन भी किया था। वे आकाशवाणी के समाचार विभाग में समाचार संपादक भी रहे थे। अपने समस्त साहित्यिक एवं प्रशासनिक दायित्वों को उन्होंने अत्यंत ईमानदारी और निष्ठा से निभाया था।



द्रोणवीर कोहली ने कहानियां कम, उपन्यास ज्यादा लिखे थे। उनके उपन्यासों में कई-कई कहानियां अंतर्निहित हुआ करती थीं। हाल में लिखित उनके उपन्यास *पोटली* के अंश *नया ज्ञानोदय, कादम्बिनी, शुक्रवार, आजकल* जैसी महत्त्वपूर्ण पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए थे। हर अंश स्वयं में एक स्वतंत्र कहानी की हैसियत रखता है। द्रोणवीर कोहली के अन्य बड़े उपन्यासों में भी यही खूबी पाई जाती है।

द्रोणवीर कोहली अपनी क़लम के चुटीलेपन, व्यंग्य-वक्रोक्ति के माध्यम से स्थितियों के विद्रूप को उभारने वाले चुपचाप से लगने वाले साहित्यकार थे। एक ज़माना था जब कनाट प्लेस स्थित रीगल बिल्डिंग में चलने वाले टी-हाऊस में शाम के समय साहित्यकारों का जमावड़ा रहता था। जैनेन्द्र कुमार, मन्मथनाथ गुप्त, मोहन सिंह सेंजर, नामवर सिंह, राजेंद्र यादव, कभी-कभार तो विष्णु प्रभाकर, मोहन राकेश, कमलेश्वर, देवराज दिनेश, राय किशोर द्विवेदी, श्याम मोहन श्रीवास्तव, मुद्राराक्षस, राजीव सक्सेना, रवींद्र कालिया वहां नियमित रूप से आया करते थे। द्रोणवीर कोहली भी दफ्तर से छूटकर वहां पहुंचते थे। किसी भी मेज़ पर चुपचाप बैठकर साहित्यिक हलचलों, सरगर्मियों और गपशप का आनंद लेते थे। फिर उसी शाम का चटपटेदार व्यंग्य बेदिल देहलवी के नाम से *धर्मयुग* में प्रेषित कर देते थे। उन्होंने अपनी इस हरकत की वर्षों तक किसी को भनक नहीं लगने दी थी। खुद को बेदिल कहते थे मगर दिलवर भी थे, दिलकश भी और दिलफेक भी।

द्रोणवीर कोहली के लेखन की विशेषताओं में उनके द्वारा लिखित रिपोर्ताज भी रहे हैं। उन्होंने कृपापूर्वक प्रेम दर्शाते हुए मुझे *राजघाट पर राजनेता* तथा *हाइड पार्क* की प्रतियां भेंट की थीं। एक गोष्ठी में आए तो अपने साथ दोनों पुस्तकें ले आए। गोष्ठी समाप्त हुई तो बोले–"आपके लिए दो पुस्तकें लाया हूं। गाड़ी में रखी है। लौटते समय ले लीजिए।" उन्हें अपनी कृतियां सार्वजनिक रूप से भेंट करने में संकोच होता था। इन दोनों पुस्तकों को पढ़ने पर मैंने पाया कि द्रोणवीर जी कितनी निष्पक्षता से टिप्पणी करते थे और गंभीरता में अगंभीरता के तत्वों को कुरेद लाने में माहिर थे।

अपनी वरीयता, परिपक्वता, अनुभवप्रवणता के कारण कोहली जी को विभिन्न परामर्श समितियों, चयन समितियों की अध्यक्षता अथवा सदस्यता निभानी पड़ती थी। वैसे मुझे मालूम है ऐसा वे किसी विशेष आग्रह अथवा दबाव में ही स्वीकार करते थे। उन दिनों वे एक सरकारी पत्रिका के परामर्श मंडल में थे, मगर स्थिति से संतुष्ट नहीं थे। आत्मीयता में बताते–वहां मैं चाय पीने, भोजन करने अथवा भत्ता लेने तो जाता नहीं। होता सिर्फ यही है। ऐसा परामर्शदाता होने का क्या लाभ? किसी को परामर्श चाहिए ही नहीं। मैं इस स्थिति से मुक्त होना चाहता हूं।" और मैं भी उन्हें दृढ़तापूर्वक कहता–"आप वहां जाइए ज़रूर! चाय पीजिए, भोजन कीजिए, और भत्ता भी लीजिए मगर उन्हें अपनी राय अवश्य दीजिए। छोड़ देंगे तो आपकी जगह किसी भ्रष्ट को सलाहकार बना लेंगे वे लोग।" द्रोणवीर जी मेरी बात सुनते

और मुस्करा भर देते। यही उनकी ईमानदारी थी।

संपादकीय ईमानदारी पर नज़र दौड़ाएं तो पाते हैं कि उनमें अपने संपादकीय दायित्व के प्रति गहरा सरोकार था। तब वे *आजकल* के संपादक थे। फ़ैज़ अहमद 'फ़ैज़' पर संपादित एक पुस्तक कार्यालय में समीक्षार्थ आई थी। पुस्तक मेज़ पर रखी थी कि एक समीक्षक महोदय उसे समीक्षार्थ ले जाने की ज़िद पकड़ गए। कोहली जी को पता था कि शायरी से उनका कोई वास्ता नहीं है। उन्हीं दिनों *साप्ताहिक हिंदुस्तान* में मनोहर श्याम जोशी ने मुझसे फ़ैज़ साहब का साक्षात्कार कराकर छापा था। कोहली जी ने उन समीक्षक महोदय से कह दिया कि आइए शेरजंग गर्ग से पूछ लेते हैं। वे अगर समीक्षा लिखने से इंकार कर देंगे तो आप समीक्षा कर दीजिए।

कोहली जी और वे महोदय, दोनों पटियाला हाउस से बाराखंभा रोड स्थित अशोक स्टेट आए। मुझसे कोहली जी ने पूछा कि क्या आप इस पुस्तक की समीक्षा लिखना पसंद करेंगे? मैंने सहमति दी तो कोहली जी ने पुस्तक मुझे थमा दी। उक्त पुस्तक पर जब मैंने अपनी टिप्पणी की तो उन्होंने उसे एक समीक्षक नहीं अपितु स्वतंत्र लेख के रूप में प्रकाशित किया।

द्रोणवीर कोहली के संपादन की यही शैली थी। बहुत सोच-समझकर लेखकों को दायित्व सौंपते थे और बेवजह किसी की सिफ़ारिश को कबूल नहीं करते थे। अपने बारे में कम बोलते थे। भाषण देने में संकोच करते थे मगर जब बोलते थे तब सहज-सजग होकर स्पष्ट रूप में बोलते थे। अपने संपूर्ण संकोच के बावजूद उत्तर प्रदेश भाषण संस्थान के उपाध्यक्ष गोपाल चतुर्वेदी के अनुरोध पर बाल साहित्य के परिप्रेक्ष्य में आयोजित संगोष्ठी में उन्होंने अपना व्याख्यान दिया था जिसमें उन्होंने बाल साहित्य के क्षेत्र में विशेषकर हिंदी में, उनकी विसंगतियों पर खुलकर प्रहार किया था।

यों द्रोणवीर कोहली बोलने, भाषण देने, समीक्षा करने में नहीं, निरंतर और बेहतर लिखने में विश्वास करते थे। हमेशा किसी-न-किसी आलेख, अनुवाद अथवा उपन्यास पर काम करते दिखाई देते थे। किसी साहित्यिक-राजनीतिक विवाद से बचने वाले द्रोणवीर कोहली सामाजिक सरोकारों पर अत्यंत गंभीर और संवेदनशील होकर सोचते-लिखते थे। हर प्रलोभन से बचने वाले द्रोणवीर प्रायः अपनी गुणग्राहकता का परिचय देते रहते थे। किसी की रचना पसंद आती तो तारीफ़ करने में संकोच नहीं किया। किसी का दूरदर्शन कार्यक्रम पसंद आया तो लट्टू होकर प्रशंसा करते रहे मगर अपनी तारीफ़ करते मैंने उन्हें कभी नहीं देखा।

द्रोणवीर कोहली साहित्यिक आयोजनों, विमर्शों, लोकार्पणों में उत्साहपूर्वक पहुंचते थे मगर उन्हें विवाद में पड़ते, किसी से उलझते अथवा किसी पुस्तक का लोकार्पण करते पहले नहीं देखा था। मुझे भी स्नेहपूर्वक यही परामर्श दिया करते थे कि साहित्यिक अखाड़ेबाज़ों से बचकर ही साहित्य साधना की जा सकती है। मैं उन्हें प्रायः कहा करता था–आपका सोचना बहुत सही है, मगर सहज भाव से ऐसा करने में कोई ख़ास हर्ज भी नहीं है। याद पड़ता है कि अपनी किसी पुस्तक का लोकार्पण उन्होंने नहीं कराया। मगर पिछले एक वर्ष में गुड़गांव में ही उन्हें दो पुस्तकों के लोकार्पण के समय पकड़ लिया गया। उन्होंने ऐसा किया भी। पहली पुस्तक थी–भार्गव की व्यंग्य कविताओं का संकलन *बंटाधार* और दूसरी पुस्तक विनोद शर्मा की बाल कविताओं की पुस्तक *चुहिया राजकुमारी का स्वयंवर* । इन अवसरों पर उन्होंने संक्षेप में कुछ कहा भी।

सरल, सौम्य, संतुष्ट और उदार रहने वाले द्रोणवीर कोहली ने कई और सही अर्थों में दुनिया देखी थी। खुद लंबा संघर्ष किया था। नवोदित-स्थापित साहित्यकारों, पत्रकारों की जान-पहचान थी। देश के विभिन्न भागों की यात्रा की थी इसके अलावा विश्व के अनेक देशों की यात्रा भी कई-कई बार की थी। जीवन के विश्वविद्यालय में अध्ययन-मनन ने उन्हें साहित्य, संस्कृति और संवेदन की दुनिया ने उन्हें डी.लिट् की उपाधि का हक़दार बना दिया था। लोग उन्हें डा. कोहली कहते तो मुस्कराकर कहते–"अरे भाई! मैं डाक्टर नहीं। डाक्टर का बाप ज़रूर हूं।" उल्लेखनीय है कि कोहली जी की बेटी डॉक्टर है और अमरीका में रहती है। वे लोगों की कमज़ोरियों, चतुराइयों और खुद पर फ़िदा रहने वाले अंदाज़ को भलीभांति समझते थे। मुस्कराकर कह देते थे–"अरे भाई सब लोग समझते हैं। इस बारे में कुछ कहने की ज़रूरत नहीं।"

मैंने महसूस किया है कि गुड़गांव आगमन के बाद, मेरे प्रति उनका स्नेह और प्रगाढ़ हो गया था। कई समितियों में होते थे। पूछते–"आपने अपनी किताब अमुक जगह नहीं भिजवाई।" मैं कहता–"हां अवश्य मैंने कभी भी पुरस्कार के लिए पुस्तक भिजवाई नहीं। न स्वभाव है और न शौक।" वे कहते–"भई भिजवाने में क्या हर्ज है। मुझे यक़ीन है पहला पुरस्कार आपको ही मिलता।" मैं कहता–"अगर आप ऐसा सोचते हैं तो मैं मान लूंगा कि मुझे पहला पुरस्कार मिल ही गया।" और बात आई गई हो जाती।

बात उन दिनों की है जब हमारा परिवार दिल्ली के साउथ एक्सटेंशन से गुड़गांव मकान बदलने की योजना बना रहा था। द्रोणवीर जी हमारे सबसे नज़दीकी थे गुड़गांव में। उनसे मिले तो ज़ाहिर है कि उनके साथ सत्या भाभी (श्रीमती कोहली) भी थीं। तब गुड़गांव में मेट्रो रेल प्रारंभ होने की प्रक्रिया में थी। अपने बंगले की लोकेशन बताते हुए भाभी जी ने बड़े नाज़ से बताया था कि उनके मेट्रो स्टेशन का नाम है गुरु द्रोणाचार्य। यह कहते हुए उनकी आंखों में सुहानी चमक उभर आई थी। शायद यह नामकरण भाई द्रोणवीर कोहली के कारण ही हुआ था। और मुझे शंकर सेन के नाटक *एक और द्रोणाचार्य* की याद आ गई थी।

अपने लगभग साढ़े पांच दशक से अधिक के जीवन को द्रोणवीर कोहली ने एक आश्वस्त, शांत, साधनाशील, अजातशत्रु, मित और मृदुभाषी परंतु दृढ़ विश्वासी रचनाकार के रूप में बिताया था। बड़ी रचनाएं लिखने में सिद्दहस्त यह बड़ा लेखक सदैव मानव मूल्यों, साहित्यिक मानकों और सकारात्मक अभिव्यक्तियों के पक्ष में खड़ा रहा। अपने अंतिम समय तक कोहली जी रचनारत रहे। उनके कंप्यूटर में अभी भी कई रचनाएं सुरक्षित हैं, जिनकी साहित्य-जगत को प्रतीक्षा रहेगी।

हिंदी और भारतीय भाषाओं के लेखक, पाठक, मीडियाकर्मी, शोधकर्ता एवं अध्यापक-प्राध्यापक आने वाले वक्तों में उनकी रचनाओं का सम्यक मूल्यांकन करेंगे, इसका विश्वास है।

द्रोणवीर कोहली के देहावसान के समाचार से साहित्य जगत स्तब्ध है। वक्त से पहले उनका चले जाना उनके मित्रों और प्रशंसकों को किंकर्तव्यविमूढ़ बना गया है। जोड़-तोड़ और आत्ममुग्धता से कोसों दूर रहने वाले द्रोणवीर कोहली की याद आती है तो कविवर बलवीर सिंह की इन पंक्तियों को थोड़ा बदलकर प्रस्तुत करने का लोभ संवरण नहीं कर पाता हूं–

सितारों में बड़ा मतभेद है इस बात को लेकर
धरा पर 'द्रोण' जैसे आदमी पाए नहीं जाते। ❑

संपर्क : वी-290, सुशांत लोक, फ़ेज़-1, गुड़गांव-122002

कम-से-कम एक दरवाजा

पृष्ठ 25 से आगे

साथ नए माहौल में जाते ही माता-पिता से उसके संबंध बदल नहीं जाते । हो सकता है नया माहौल बहुत सहयोगी न हो इसलिए यह संदेश रेखांकित होना चाहिए कि अगर शादी के बाद तुम्हें विपरीत स्थितियों का सामना करना पड़े या अपमानित होना पड़े तो तुम अकेली नहीं हो इसलिए कभी चुप रहकर अपने भीतर मत घुटना।

- दूसरी ज़िम्मेदारी शैक्षणिक संस्थाओं और मीडिया की है। शिक्षा लड़कियों को भावनात्मक संबल नहीं देती, न जीने की कला सिखाती है, यह सिर्फ पैसा कमाने का सामर्थ्य पैदा करती है। लड़कियों का भावनात्मक रूप से भी आत्मनिर्भर होना ज़रूरी है ।

- सभी स्कूल और कॉलेजों में एक स्थायी प्रशिक्षित सलाहकार नियुक्त किया जाना चाहिए जो भारतीय समाज की पुरुषवादी मानसिकता और जीवन की व्यावहारिक जटिलताओं से भी छात्र का परिचय करवाए और उन्हें अपने जीवनसाथी को उसका अपेक्षित सम्मान देना सिखाए।

- मीडिया और टी. वी. धारावाहिकों में 'चुप रहकर सहने वाली स्त्री 'और उसके ख़िलाफ़ षड्यंत्र रचने वाली एक खलनायिका स्त्री के महिमामंडन पर रोक लगे और सकारात्मक पक्षों को उकेरा जाए। हमारी धार्मिक पुस्तकें और वैवाहिक मंत्र जिस तरह एक पक्ष के हर स्थिति को स्वीकार करने और तालमेल बिठाने पर जोर देते हैं, उसे उभयपक्षी किया जाए।

- शादी तय होते ही लड़कियां सुनहरे सपने देखने लगती हैं। इन सपनों के साथ उन्हें यह भी मालूम हो कि शादी सिर्फ़ फूलों की सेज नहीं है। शादी दो अलग अलग माहौल से आए व्यक्तियों का जुड़ाव है जिसे बहुत समझदारी के साथ दोनों को ही तालमेल बनाकर चलना है। इसे निभाना ज़रूरी है पर अपनी ज़िंदगी की कीमत पर नहीं। सामाजिक प्रतिष्ठा, परंपरा और संस्कारों के नाम पर ज़रूरी नहीं कि अकेली या तलाकशुदा होने के डर से एक शिक्षित लड़की अपनी ज़िंदगी को दाव पर लगा दे। उसे अपनी शर्तों पर अपने आत्मसम्मान को बचाते हुए जीना है।

- लड़कियों को यह समझना है कि उनका जीवन बेशकीमती है और अगर शादी ठीक नहीं चलती तो दुनिया वहीं खत्म नहीं हो जाती। हादसे और आघात ही हमें मज़बूत बनाते हैं। एक दरवाज़ा बंद होने से ज़िंदगी रुकी नहीं रह जाती। रास्ते और मंज़िलें और भी हैं ।

- हम सब अपनी चुप्पी के संस्कारों को तोड़ें तो हम ज़रूर कुछ नया गढ़ पाएंगे–अपने लिए और अपने समाज के लिए! लेकिन सबसे ज़रूरी है हमारे लिए एक दरवाज़े का खुला होना। इन्हीं स्थितियों ने मुझसे ये पंक्तियां लिखवा लीं–

बेटियों को जब सारी दिशाएं
बंद नज़र आएं
कम-से-कम एक दरवाज़ा
हमेशा खुला रहे उनके लिए ! ❑

संपर्क : 1702 , सॉलिटेअर , डेल्फी के सामने , हीरानंदानी गार्डेन्स , पवई , मुंबई-400 076

यहीं कहीं था घर

ज्यादातर घर
ईंट गारे से बनी दीवारों के मकान होते हैं
घर नहीं होते...

0

जड़ें समेत उखड़कर
अपना घर छोड़ कर आती है लड़की
रोपती है अपने पांव
एक दूसरे आंगन की खुरदरी मिट्टी में
खुद ही देती है उसे हवा-पानी, खाद-खुराक
कि पांव जमे रहें उस धरती पर
जहां रचने-बसने के लिए
टोरा गया था उसे !

0

एक दिन
वहां से भी फेंक दी जाती है
कारण की ज़रूरत नहीं होती
किसी बहाने की भी नहीं
कोई नहीं उठाता सवाल
कोई हाथ दो बित्ता आगे नहीं बढ़ाता
उसे थामने के लिए...

0

वह लौटती है पुराने घर
जहां से उखड़कर आई थी
देखती है उखड़ी हुई जगह भर दी गई है
कहीं कोई निशान नहीं बचा उसके उखड़ने का ...

0

फिर लौटती है वहीं
जहां से निकाल दी गई थी बेवजह
ढूंढ नहीं पाती वह जगह,
वह मिट्टी, वह नमी, वह खाद खुराक ...

0

ताउम्र ढूंढती फिरती है
ईंट गारे की दीवारों के बीच
यहीं कहीं था घर ...!

– सुधा अरोड़ा

समीक्षा

स्त्री अनुभव का महाभिनिष्क्रमण

महाभिनिष्क्रमण (उपन्यास) : अर्चना श्रीवास्तव; प्रकाशक : संस्कृति साहित्य, दिल्ली; पृष्ठ : 112; मूल्य : 175 रुपये।

महाभिनिष्क्रमण लेखिका–अर्चना श्रीवास्तव का पहला उपन्यास है। कथानक के केंद्र में एक बुद्धिजीवी महिला का जीवन है। लेखिका का आत्मकथ्य है–"दुख मुझे बांधता नहीं, मुक्त करता है। सुख स्वार्थी बनाता है; जबकि दुख परमार्थी। सुख के क्षण होते हैं; जबकि दुख काटे नहीं कटता। अपना दुख जब औरों के दुख के साथ घुलमिल जाता है, तो एक जीवन-दर्शन बन जाता है। ऐसा जीवन-दर्शन जिसमें कोई पराया नहीं होता। सभी नितांत अपने होते हैं। दुख में हृदय विस्तार पाता है तभी उसमें ग़ैरों को भी अपना बना लेने की कुवत पैदा होती है।"

लेखिका का आत्मकथ्य उपन्यास की नायिका मेधा का भी आत्मकथ्य बन जाता है। छात्राओं को ज्ञानवान बनाने वाली कॉलेज में दर्शनशास्त्र की प्राध्यापिका मेधा को सच्चा ज्ञान मिलता है, जीवन की पाठशाला में। पहले-पहल, तो स्त्री केंद्रित अन्य उपन्यासों की भांति ही *महाभिनिष्क्रमण* भी एक पढ़ी-लिखी आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर स्त्री के जीवन की विसंगतियों और बहुस्तरीय विडंबनाओं से जूझता नज़र आता है। सदियों की पितृसत्तात्मक जकड़ से स्वयं को मुक्त करने की कोशिश में लगी 'मेधा' भारतीय मध्यवर्गीय औरत की आज़ादी के प्रतीकों–प्रेम विवाह, और आर्थिक आत्मनिर्भरता के जरिए अपने लिए मुक्ति की सांसें और उजालों से भरा एक घर बनाना चाहती है। चाहना के इस सफ़र में वह प्रतीक तो आधुनिक चुनती है, लेकिन सदियों के संस्कार में जकड़ा मन स्वयं को अपने जीवन का केंद्र नहीं बना पाता। अंततः पति देवता नहीं तो, उस जैसा ही कुछ स्थान उसके जीवन में पाता है। आज़ादी के तमाम ख्वाब देखने और उसे साकार करने का साहस रखते हुए भी संस्कारों से बंधा स्त्री का मन जब नहीं बदल पाया तो भला पुरुष का मन कैसे बदल जाता? मेधा का पति रंगकर्मी आकाश जीवन की किसी ज़िम्मेदारी को नहीं निभाता है। हर कदम पर साथ देनेवाली, चुपचाप सभी ज़िम्मेदारियों का वहन करनेवाली पत्नी को न केवल दकियानूस, बदसूरत, बेवकूफ़ समझता है, बल्कि इसका शाब्दिक इज़हार भी अक्सर करता है। आधुनिकता के आवरण में छुपा दंभी 'मेल सोवेनिस्ट' का पता तब चलता है, जब बेटी होने पर आकाश का व्यवहार मेधा के साथ बदल जाता है। इस छल को वह अपने आत्मबल के बूते सालों झेलती रहती है। लेकिन अति तब होती है; जब आकाश उसकी छात्रा सोनिका से संबंध बना आधुनिकता की आड़ में मर्यादा की सारी सीमाओं को पार कर जाता है। मेधा अंततः घर छोड़ देती है। अपनी नौकरी से इस्तीफ़ा दे, बेटी निःसंतान ननद को सौंप, जीवन के व्यापक अर्थ की तलाश में निकल पड़ती है।

यहीं पर उपन्यास किसी भी अन्य स्त्रीवादी उपन्यास से अलग रास्ता लेता है। एक अलग रास्ते पर चलकर ही उपन्यास एक विशेष अर्थ से भरा शीर्षक *महाभिनिष्क्रमण* खोजता है। *महाभिनिष्क्रमण* में छोड़कर चल देना भी छिपा है और कहीं पहुंचने का बोध भी। इसी अर्थ में उपन्यास स्त्री-विमर्श में एक अगला कदम बढ़ाता है। स्त्री-विमर्श प्रदत्त को प्रश्नांकित करने और उसे छोड़ आगे बढ़ जाने के आयास से शुरू होता है। लेकिन अस्तित्व की आवश्यकता है कहीं पहुंचने का बोध। जीवन का यह आयाम स्त्री-विमर्श की खोज-यात्रा का अगला पड़ाव है। किसी भी अन्य अस्मितापरक लेखन की भांति स्त्री-लेखन का जीवन के अस्तित्वगत सवालों से तनावपूर्ण रिश्ता है। इस तनाव के संदर्भ को समझना मुश्किल नहीं है। उसके सामने पहले जीवन को बचाने का प्रश्न खड़ा होता है। जीवन बचे तब तो 'मैं कौन हूं', 'मैं क्यों हूं' जैसे जीवन के वृहत्तर सवालों की बारी आए। लेकिन इस उपन्यास में जीवन के दोनों ही पक्ष शुरू से साथ-साथ चलते हैं। दर्शनशास्त्र की प्राध्यापिका मेधा बौद्धधर्म से प्रभावित है और जीवन को समझने के लिए अक्सर इसका सहारा लेती है। इसमें मेधा को सफलता मिलती है। अंततः स्त्री-पुरुष, अपना-पराया, छोटा-बड़ा के द्वैत से पार जाकर वह उस अवस्था को प्राप्त होती है; जहां करुणा के बीज उसके भीतर प्रस्फुटित होने लगते हैं। वह कैंसर से पीड़ित आकाश को क्षमा कर देती है और दिवंगत सोनिका और आकाश के दोनों बच्चों को अपना लेती है। स्त्री के स्वाभिमान के साथ करुणा के इस मणिकांचन योग से वही घटित होता है जिसे सहजोबाई ने 'बिन घन पड़त फुहार' के रूप में जाना है।

एक आज़ाद स्त्री के स्वप्न से शुरू हुई नायिका की यात्रा मानवनिर्मित सारे विभेदों और श्रेणी से मुक्ति की यात्रा बन जाती है। संभवतः इसी अवस्था की तलाश में, दिव्यता के इसी स्पर्श के लिए संसार में सारे जतन किये जाते हैं। चाहे हम उसे नाम कुछ भी दें। कह सकते हैं कि दिव्यता की खोज-यात्रा में लेखिका ने स्त्री-जीवन के सारे सवालों मसलन–अगले जनम मोहे बिटिया न कीजो (कन्या भ्रूण हत्या), काहे को ब्याहे बिदेस लखि बाबुल मोरे (बेमेल ब्याह) से साक्षात्कार किया है।

कथानक में जहां स्त्री-जीवन के हर पहलू को छूने का प्रयास है, वहीं शिल्प के स्तर पर उपन्यास आत्मीयता के उस द्वीप पर पहुंच जाता है, जहां पहुंच पाना अक्सर दुष्कर होता है। ख़ासतौर से तब, जब स्त्री-लेखन जीवन से कटकर ग़ैरसरकारी संगठनों के मुहावरों के आलोक में लिखे जा रहे हों। वहां कथानक पाठकों के दिल तक पहुंच पाने में, उनसे कोई डोर जोड़ पाने में अक्सर असफल रह जाते हैं। लेकिन, *महाभिनिष्क्रमण* की सहजता और सादगी भरी शैली पाठक के अंतःलोक में पहुंच पाने में सफल होती है, जहां पाठक भी नायिका के साथ जीवन की सार्थकता की खोज में निकल पड़ता है। कई बार नायिका का दुख पढ़ने वाले के अपने दुख से एकाकार हो जाता है और उसकी आंखों से आंसू निकल पड़ते हैं। कथानक चाहे भले अलग हो, जीवन की मूल खोज तो एक ही हैं–'सत्यम शिवम् सुंदरम'। इसी की तलाश में तो हम सब जीवन के इर्दगिर्द घिर आई कितनी ही कुरूपताओं के साथ एक प्रतीक्षा भरी सहयात्रा करते हैं। लेकिन यह प्रतीक्षा पूरी होती है। ये सारी कुरूपताएं उस रोज़ अचल सौंदर्य से दैदीप्यमान हो उठती हैं, जिस रोज़ हमें जाने-अनजाने दिव्यता का स्पर्श होता है। लेकिन उपन्यास की एक कथा अनकही रह जाती है। दर्शनशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन में नायिका को अपने जीवन का विस्तार क्यों नज़र नहीं आता? क्यों वह नौकरी से त्यागपत्र देकर आश्रम-जीवन का वरण करती है? क्या शास्त्र में बंधा दर्शन और उसके अध्ययन-अध्यापन की संरचना में इतनी सामर्थ्य नहीं कि वह जीवन के अस्तित्वगत सवालों को हल कर सके। जिन सवालों से यह शास्त्र पैदा हुआ उन सवालों को न हल कर पाना आधुनिक ज्ञानलोक की सीमा है अथवा नायिका के व्यक्तित्व की?

– मेधा

दो फागुनी गीत

शिवाकांत मिश्र 'विद्रोही'

एक

होली है
पर बूढ़ा तन
बीमारी है
रोटी, नमक
प्याज़ तक की
दुश्वारी है।

ननकुन्ने का
नन्हा हाथ
करे भी क्या;
फटी जेब
मुट्ठी में रंग
धरे भी क्या;
क्षमता
ग्लास-प्लेट धोने तक
ढाबे की
तीन-चार
लोगों का पेट
भरे भी क्या,
रसिया फागुन
होगा
नंदन-बंगलों में
अपनी तो
फांकामस्ती से
यारी है।

हमको क्या गुलाल से
और अबीरों से,
अपना
रिश्ता जब
फूटी तक़दीरों से
बीमारी में
धन से नहीं
इलाज हमें,
मिलता
झाड़-फूंक से
पीर-फ़क़ीरों से, कबरों में
भूमिका अभी
मधुमासों की?
लिखना कहीं
लेखनी की
लाचारी है।

दो

देवर!
रंग न दे
कुछ रोटी,
चाहे
बासी हो
या मोटी
नैतिकता
न बेच पाई
बेचा ताउम्र पसीना
पर निर्दयी
बुढ़ापे ने
मुझसे अब वह भी छीना
जिसने बेचा
फागुन अब वह

काटे व्हिस्की-बोटी
धंसी आंख
पोपले गाल
सूखी अंतड़ी पर फागुन
कितना रंग
जमा पाए कुछ कह
परदेशी पाहुन,
जब तेरे दादा
गठिया के मारे
फटी लंगोटी।

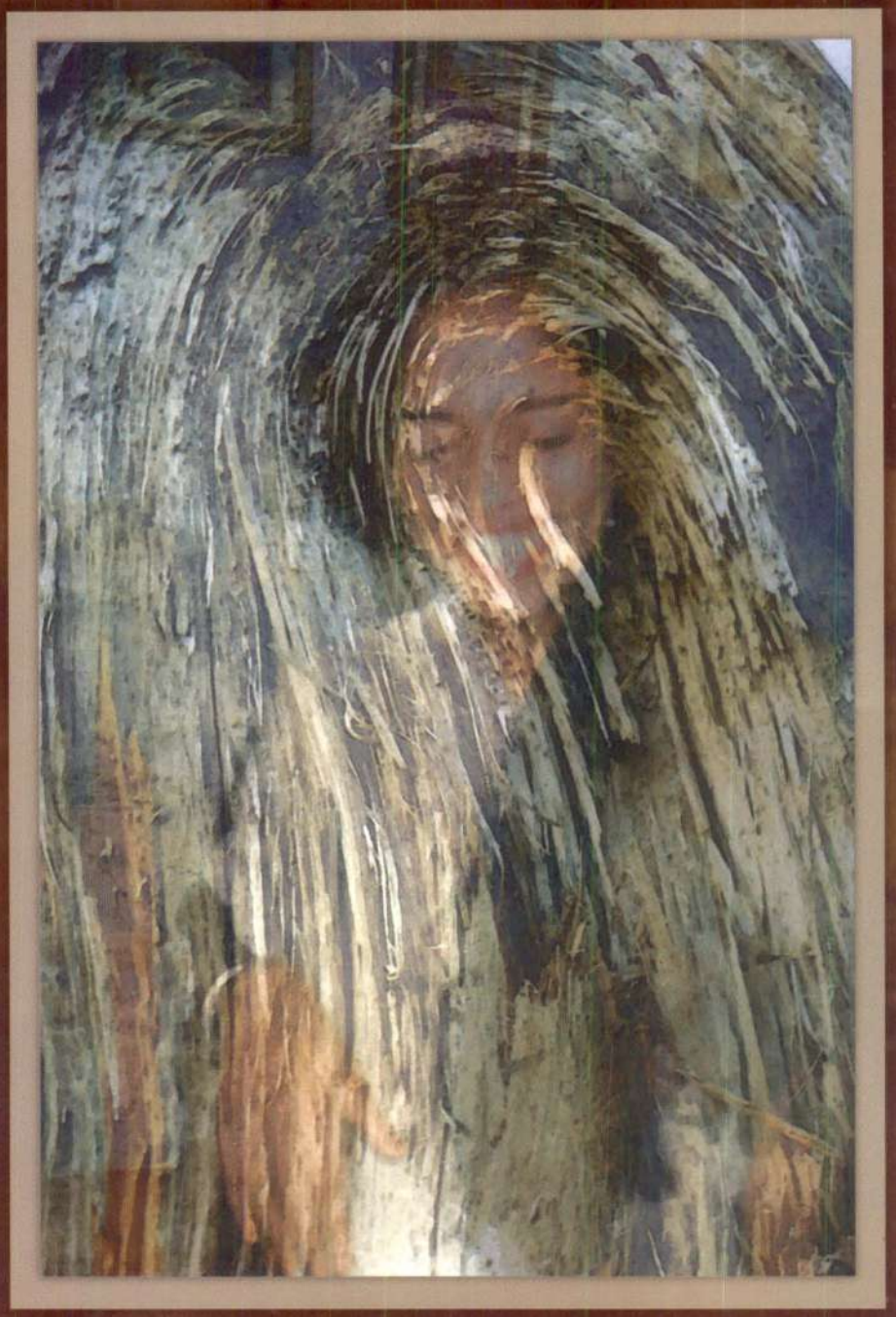
जिस घर में
चुहिया तक भी
दाने-दाने को तरसे
उस घर में
चूनर वाली पर
कहो रंग क्या बरसे
राधा-कान्ह के
पिचकारी की
किस्मत जो खोटी।

संपर्क : डब्ल्यू-251, आवास विकास कालोनी, गोंडा-271002 (उ.प्र.)

डाक तार पंजीयन सं. डीएल (एस)-05/3222/2012-14
Postal Regn No DL(S)-05/3222/2012-14

दिल्ली डाक आर एन आई 701/57
Delhi Postal R N I 701/57

वार्षिक मूल्य : 100 रुपये



प्रकाशक व मुद्रक : के. गणेशन, महानिदेशक, प्रकाशन विभाग के लिए चार दिशाएं प्रिंटर्स प्रा. लि., जी-40, सेक्टर-3, नोएडा से मुद्रित एवं प्रकाशन विभाग, सूचना भवन, सी.जी.ओ. कॉम्प्लेक्स, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003 से प्रकाशित

संपादक : सीमा ओझा